

अपभ्रंश भारती

शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 1997-98

9-10



अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

अपभ्रंश भारती

वार्षिक
शोध-पत्रिका

अक्टूबर, 1997-98

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीनाथ पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य

30.00 रु. सामान्यतः

60.00 रु. पुस्तकालय हेतु

मुद्रक

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

जयपुर

विषय-सूची

क्र.सं. विषय	लेखक का नाम	पृ. सं.
प्रकाशकीय		
सम्पादकीय		
निशा अब जा रही है	श्री मिश्रीलाल जैन	
1. अपभ्रंश के जैन कवि और संत कबीर के दोहों में संयम की भूमिका	डॉ. सूरजमुखी जैन	1
2. अपभ्रंश रामकाव्य-परम्परा में पउमचरिउ	सुश्री मंजु शुक्ल	7
3. महासरं पत्तविसेसभूसियं	कवि नयनन्दि	26
4. पउमचरिउ की लोक-दृष्टि	डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी	27
5. महासरं पत्तविसेसभूसियं	अनु. - डॉ. हीरालाल जैन	34
6. अपभ्रंश के महाकवि त्रिभुवन एक परिचय	डॉ. संजीव प्रचण्डिया 'सोमेन्द्र'	35
7. पुष्पदन्त के काव्य में प्रयुक्त 'कवि समय'	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	37
8. सुदंसणचरिउ में सौन्दर्य और बिम्ब	डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव	47
9. करकंडचरिउ में कथानक-रूढ़ियाँ	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	53
10. जंबूसामिचरिउ में अनुभाव योजना	डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'	65
11. णिवेण लोएण सरवरं	कवि नयनन्दि	78
12. संदेशरासक के रचयिता अब्दुरहमान	श्री वेदप्रकाश गर्ग	79
13. हिन्दी भाषा पर प्राकृत का प्रभाव	डॉ. बहादुर मिश्र	89
14. जत्थ य चूयकुसुममंजरिया	महाकवि पुष्पदन्त	96
15. हिन्दी के औपम्य-विधान पर प्राकृत का प्रभाव	डॉ. प्रतिभा राजहंस	97
16. पउमचरिउ के अनूठे तत्त्वों का अप्रतिम संकलन	सुश्री मंजु शुक्ल	101
17. उज्जेणिहिँ सिप्पा णाम णइ अत्थि	महाकवि पुष्पदन्त	122
18. जैन अपभ्रंश साहित्य	डॉ. नीलम जैन	123

अप्रभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएँ

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में एक बार महावीर निर्वाण दिवस पर प्रकाशित होगी।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जाएगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हों।
5. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से.मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए।
6. अस्वीकृत/अप्रकाशित रचनाएँ लौटाई नहीं जाएँगी।
7. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता -

सम्पादक

अप्रभ्रंश भारती

अप्रभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर - 302004

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्येताओं के समक्ष अपभ्रंश भारती का नवाँ-दसवाँ अंक सहर्ष प्रस्तुत है।

‘अपभ्रंश भाषा’ साहित्यिक भाषा के गौरवशाली पद पर छठी शताब्दी में आसीन हुई यद्यपि अपभ्रंश में प्रथम शती से रचनाएँ होती रही है। अपभ्रंश का महत्वपूर्ण साहित्य 8वीं शती से 13-14वीं शती तक रचा गया। 9वीं से 13वीं शताब्दी के युग को ‘अपभ्रंश’ का ‘स्वर्णयुग’ कहा जा सकता है। अपभ्रंश की अन्तिम रचना है भगवतीदास रचित (16वीं शती) ‘मृगांकलेखा चरित।’

अपभ्रंश के साहित्यिक महत्व को समझते हुए दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा ‘अपभ्रंश साहित्य अकादमी’ की स्थापना सन् 1988 में की गई। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन-अध्यापन को समुचित दिशा प्रदान करने के लिए ‘अपभ्रंश रचना सौरभ’, ‘अपभ्रंश काव्य सौरभ’, ‘प्राकृत रचना सौरभ’, ‘पाहुडदोहा चयनिका’ आदि पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं। पत्राचार के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर ‘अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम’ व ‘अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम’ विधिवत् चलाए जा रहे हैं। अपभ्रंश में मौलिक लेखन के प्रोत्साहन के लिए ‘स्वयंभू पुरस्कार’ भी प्रदान किया जाता है।

अपभ्रंश साहित्य पर विभिन्न दृष्टियों से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए जिन विद्वान लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर प्रस्तुत अंक का कलेवर बनाया है हम उनके आभारी हैं।

पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह है। अंक के मुद्रण के लिए जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर भी धन्यवादार्ह है।

प्रकाशचन्द्र जैन
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

“ ‘अपभ्रंश’ साहित्यिक भाषा के गौरवशाली पद पर छठी शताब्दी में आसीन हुई। इससे पूर्व भरत के नाट्य शास्त्र (द्वितीय ई. शती), विमलसूरि के पउमचरिय (3 ई. श.) में पादलिप्तसूरि के तरंगवइकहा आदि में अपभ्रंश के शब्दों का कथंचित् व्यवहार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है अपभ्रंश में प्रथम शती से रचनाएँ होती रही हैं। महत्त्वपूर्ण साहित्य 8वीं शती से 13-14वीं शती तक रचा गया। इसी कारण अपभ्रंश के 9वीं से 13वीं शताब्दी तक के युग को डॉ. हरिवंश कोछड़ ने ‘समृद्ध युग’ एवं डॉ. राजनारायण पाण्डेय ने ‘स्वर्णयुग’ माना है। अपभ्रंश की अन्तिम रचना है भगवतीदास-रचित ‘मृगांकलेखाचरित’ (16वीं शती)।”

“अपभ्रंश की विपुलता का ज्ञान डॉ. नामवरसिंह के इस कथन से पुष्ट होता है - “यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिन्तन का चिन्तामणि है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है। यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोक-जीवन से उत्पन्न होनेवाले ऐहिक रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन-चरित से सम्पन्न है तो सामान्य वणिक-पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थकरों की भावोच्छ्वसित स्तुतियों, अनुभव-भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों, वैभव-विलास की झॉंकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वष्य-जीवन की शौर्य-स्नेहसिक्त गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयंभू जैसे महाकवि के हाथों से इसका बीजारोपण हुआ, पुष्पदंत, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र अब्दुलरहमान, सरह और कण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अन्तिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का सम्बल प्राप्त हुआ।”

“ ‘रामकथा’ विश्व वाङ्मय में भारतीय संस्कृति, धर्म-साधना तथा काव्यचेतना की सशक्त प्रतिनिधि है।

‘रामकथा’ हिन्दू धर्म-ग्रन्थों तथा हिन्दी साहित्य में ही काव्य-सृजन का विषय नहीं बनी, इसे जैनों तथा बौद्धों ने भी अपना काव्य-विषय बनाया। पौराणिक चरित्रों में राम तथा कृष्ण का चरित्र मुख्य था। इन धार्मिक लोकनायकों को आधार बनाकर जैनाचार्यों ने पौराणिक चरितकाव्यों की रचना की। जैनों ने इन लोकनायकों को जैनधर्म के आदर्शों के अनुसार प्रतिष्ठित किया।”

“स्वयंभू कृत ‘पउमचरिउ’ अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा की अमूल्य निधि है जिसका प्रभाव परवर्ती रामभक्त रचनाकारों पर भी स्वीकारा जाता है। हिन्दी रामकाव्य परम्परा के सर्वप्रमुख मर्मज्ञ कवि तुलसीदास पर भी यह प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलसी ने अपनी रामकथा के प्रेरणास्रोतों

के सन्दर्भ में एक शब्द 'क्वचिदन्यतोपि' का उल्लेख किया है, राहुल सांकृत्यायनजी के अनुसार इसका आशय स्वयंभू रामायण से ही है। डॉ. रामसिंह तोमर, डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय तथा डॉ. हरिवंश कोछड़ भी परवर्ती रामकाव्यों पर 'पउमचरिउ' का प्रभाव स्वीकारते हैं।

स्वयंभू यथार्थ जीवन के प्रतिष्ठापक, उदात्त विचारों के पोषक तथा एक क्रान्तिकारी युग कवि थे, उन्होंने 'पउमचरिउ' के माध्यम से हिन्दी साहित्य को कई अर्थों में मौलिक सन्देश दिये हैं।''

“ 'पउमचरिउ' अपभ्रंश भाषा का एक बेजोड़ ग्रंथ है जिसमें महाकवि स्वयंभू ने अपनी काव्य-प्रतिभा को निराले ढंग से अभिव्यक्त किया है। यूं तो इस ग्रन्थ का महत्त्व कई दृष्टियों से है क्योंकि यह अपभ्रंश भाषा में रचित प्रथम रामाख्यानक कृति है जो संस्कृत और प्राकृत की साहित्यिक परम्परा को स्वयं में समेटे हुए है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी इसमें कई ऐसे तत्त्व हैं जो नितान्त मौलिक हैं और इस ढंग से अभिव्यक्त किये गये हैं कि उनकी सारगर्भिता मन को अन्दर तक छू जाती है और इन्हीं ऐसे अनुभूत तत्त्वों से ही सम्पूर्ण कृति महत्तापूर्ण हो जाती है। 'पउमचरिउ' में वर्णित नीतिवचन, संगीत, नृत्य, अर्थशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, उपमाएँ, पशु-पक्षी, द्यूतक्रीड़ा, भौगोलिकता और भी न जाने क्या-क्या स्वयंभू ने बहुत गहनता से वर्णन किया है।''

“स्वयंभू अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा के प्रथम कवि हैं। इनका समय आठवीं शताब्दी ई. है। इन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि भी कहा जाता है। पउमचरिउ की रचना धनंजय के आश्रय में हुई थी। इस ग्रंथ में पाँच काण्ड, बारह हजार श्लोक तथा नब्बे संधियाँ हैं। इसमें तिरासी संधियों की रचना स्वयंभू ने तथा शेष सात संधियों की रचना उनके पुत्र त्रिभुवन ने की थी। संधियों को प्रत्येक काण्ड में विभक्त कर दिया गया है, यह वर्गीकरण इस प्रकार है -

विद्याधर काण्ड	20 संधि
अयोध्या काण्ड	22 संधि
सुन्दर काण्ड	14 संधि
युद्ध काण्ड	21 संधि
उत्तर काण्ड	13 संधि

संधियाँ कडवकों में विभक्त हैं, पउमचरिउ में कुल 1269 कडवक हैं। स्वयंभूकृत 'पउमचरिउ' संस्कृत 'पद्मचरित' का अपभ्रंश रूप है। जैन परम्परा में 'पद्म' को राम का पर्यायवाची माना जाता है। यद्यपि स्वयंभू ने अपनी इस रामकथा को 'पउमचरिउ' शीर्षक से अभिहित किया है परन्तु 'पउमचरिउ' के अतिरिक्त स्वयंभू ने अपनी इस रामकथा हेतु अन्य नामों का भी उल्लेख किया है - पौमचरिय, रामायणपुराण, रामायण, रामएवचरिय, रामचरिय, रामायणभाव, राघवचरिउ, रामकहा।''

“जीवन-मूल्यों का सन्दर्भ लोकाचार से अन्यान्य भाव से जुड़ा होता है और कृतिकार तथा कृति अगर लोक से परिचित न हों (गहरे रूप में) तो सृजन-कर्म पूर्ण होगा - इसमें संदेह की मात्रा ही अधिक रहेगी। पउमचरिउ का कवि लोक-कवि है और दृष्टि-समर्थ भी।''

“अपभ्रंश के महाकवि त्रिभुवन 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि माने जाते हैं। इनके पिता कविवर स्वयंभू 8वीं शताब्दी के पूर्व के एक प्रतिष्ठित कवि थे। इन्होंने (स्वयंभू ने) अपभ्रंश में ‘रामकाव्य’ की रचना की। इसलिए कविवर ‘स्वयंभू’ को अपभ्रंश का वाल्मीकि भी कहा जाता है। अतः कविवर त्रिभुवन को काव्य-कौशल और पाण्डित्य उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। इनके पिता स्वयंभू तथा बाबा मारुतिदेव दोनों ही मँजे हुए कवि थे। ये उत्तर के रहनेवाले थे किन्तु कालान्तर में दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य को चले गये।”

“कविसमयपरक अध्ययन और अनुशीलन करने से कवि (पुष्पदन्त) के विस्तृत ज्ञान तथा कल्पना शक्ति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।”

“प्राकृतोत्तर अपभ्रंश-चरितकाव्यों की सांगोपांग विकास-परम्परा में ‘सुदंसणचरित’ का पार्यन्तिक महत्त्व है। इसके प्रणेता अपभ्रंश के रससिद्ध कवीश्वर मुनि नयनन्दी (ग्यारहवीं शती की अन्तिमावधि) हैं। अन्तः साक्ष्य के अनुसार ‘सुदंसणचरित’ एक ऐसा चरितकाव्य है जिसमें रस-बहुल आख्यान परिगुम्फित हुआ है। इसकी कथावस्तु में समाहित कलाभूयिष्ठ काव्य-वैभव के तत्त्वों की वरेण्यता के कारण ही विधायक मूल तत्त्वों ने हृदयाहारी सौन्दर्य और मनोहारी बिम्ब प्रमुख हैं। ‘सुदंसणचरित’ इन दोनों ही तत्त्वों की व्यावर्तक विशेषताओं से विमण्डित है। चित्ता-कर्षक सौन्दर्य के सुष्ठु समायोजन और हृदयावर्जक बिम्बों के रम्य-रुचिर विनियोग की दृष्टि से ‘सुदंसणचरित’ एक आपात-रमणीय काव्य है।”

“बिम्ब-विधान की दृष्टि से भी ‘सुदंसणचरित’ की काव्यभाषा अतिशय महत्त्वपूर्ण है। बिम्ब-विधान कलाचेता कवि की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रिय-ग्राह्यता प्रदान करता है। काव्यकार मुनिश्री नयनन्दी द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ युग की विचारधारा का भी पता चलता है।”

“कुल मिलाकर ‘सुदंसणचरित’ के प्रणेता द्वारा अनेक शब्दाश्रित और भावाश्रित बिम्बों का विनियोग किया गया है जिनमें भाषा और भाव दोनों पक्षों का सार्थक समावेश हुआ है।”

“भिन्न-भिन्न कथानक रूढ़ियों के प्रयोग से मुनि कनकामर के ‘करकंडचरित’ में उसके कथा-संगठन, वस्तु-निरूपण, मौलिक प्रसंगोद्भावना, शिल्प एवं प्रयोजनसिद्धि आदि में जो कलात्मक सौन्दर्य और काव्य का औदात्य उभरकर आया है वह अनूठा और अन्यतम है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किस कथानकरूढ़ि का कहाँ, कब और कैसे प्रयोग होना है - इस कला में वह पूर्ण पारंगत है, निष्णात है। तभी इतनी अधिक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों का प्रयोग वह सफलता के साथ कर सका है। यह ठीक है कि इनकी अति भी अनेक स्थलों पर खटकती है। परन्तु कथा को बढ़ाने और धार्मिक-प्रयोजन की सफलता के लिए उसकी यह विवशता भी है। अनेक अवान्तर कथाओं का प्रयोग, अनेक पात्रों की पूर्वजन्म की कथाओं का नियोजन-निरूपण भी इसीलिए किया गया प्रतीत होता है। फिर, संपूर्ण कथा इन्हीं कथानक रूढ़ियों के सहारे निर्मित होती है, बढ़ती है और समाप्त होती है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग और उनके सौन्दर्य की दृष्टि से अनूठा और अतुलनीय है। इसके रचयिता की कला-पटुता एवं सौन्दर्य की सूक्ष्म-दृष्टि का सहज परिचय इसमें मिलता है। लोक-जीवन की गहन अनुभूति का भव्य आकर्षण इसकी सरल, सहज और सरस अभिव्यक्ति में अन्तर्निहित है। परन्तु वह भी जैसे इन्हीं कथानक-रूढ़ियों में सिमट गया है।”

“रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश हृदयंगम कराया जा सकता है। इसलिए कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। महाकवि वीर इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थे। उन्होंने अपने काव्य में शृंगार से शान्त तक सभी रसों की मनोहारी व्यंजना की है।”

“कवि वीर ने जम्बूसामिचरिउ में सशक्त, सटीक, स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी अनुभावों का संयोजन कर पात्रों के रत्यादि भावों को अनुभूतिगम्य बनाने में अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया है। उनके द्वारा सामाजिक को पात्रों की रत्यादि परिणत-अवस्था का अविलम्ब बोध होता है। इसे उसका स्वकीय रत्यादि भाव तुरन्त उद्बुद्ध होकर उसे शृंगारादि रस से सराबोर कर देता है।”

“रस को व्यंजित करने की कला कवि के काव्य-कौशल की कसौटी है। रससिद्ध कवि वही माना जाता है जिसका रस-सामग्री-संयोजन अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों का विन्यास सटीक, स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक हो। इसके लिए कवि को विभावादि का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है और आवश्यक है उचित पात्र में उचित स्थान तथा उचित समय पर इन्हें प्रयुक्त करने की सूझबूझ। वीर कवि में ये सभी गुण उपलब्ध होते हैं।”

“‘संदेश-रासक’ के रचना-कौशल से पता चलता है कि कवि प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में निष्णात था, ऐसा उसके आत्म-निवेदन से भी प्रकट है। कृति के अध्येता को पदे-पदे यह विश्वास होता चलता है कि कवि को भारतीय साहित्य-परम्परा का पूर्ण ज्ञान है और उसमें भारतीय साहित्य के संस्कार पूरी मात्रा में विद्यमान थे। उसकी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में अभारतीयता का कहीं लेश भी नहीं मिलता। उसके भाव और विचार पूर्णतया भारतीयत्व से पगे हैं। अतः ‘संदेशरासक’ को किसी अहिन्दु कवि की रचना मानना उचित नहीं है।”

“‘संदेश-रासक’ को एक मुसलमान कवि की रचना न मानने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि किसी मुसलमान कवि द्वारा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में मंडित काव्य-रचना करने की प्रतिभा पर मैं शंका कर रहा हूँ। हिन्दी में अनेक मुसलमान कवियों ने भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के आधार पर अनेक उच्चकोटि के काव्यसंग्रह रचकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, किन्तु इसी के साथ यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में ऐसे स्पष्ट संकेत दिये हैं जिनसे यह पूर्णतया ज्ञात हो सका कि अमुक रचना का रचयिता इस्लाम धर्मावलम्बी था। ‘संदेश-रासक’ में ऐसे परिचय-संकेतों का अभाव है। अद्दहमाण ने जो अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह मुसलमान था। पुष्ट प्रमाणाभाव ही इसमें कारक है। यदि भविष्य में ऐसे प्रमाण मिले और उनसे अद्दहमाण के मुसलमान होने की पुष्टि हो, तो फिर यह स्थिति शंकनीय नहीं है।”

“आत्मिक अभ्युत्थान और समाज के विकास में संयम की अहं भूमिका है। संयम के द्वारा ही समाज में सबका जीवन निरापद हो सकता है और संयम के द्वारा ही जीव शाश्वत सुख-आत्मसुख को प्राप्त कर सकता है।”

“सम्यक् प्रकार से अपने शुद्धस्वरूप में स्थिर होना ही संयम है। यह संयम दो प्रकार का है - इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयम। इन्द्रिय-विषयों में अत्यधिक आसक्ति का न होना इन्द्रिय संयम है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस - इन छः काय के जीवों की रक्षा करना प्राणि-संयम है।”

“अपभ्रंश के जैन कवियों तथा संत कबीर ने सुख-प्राप्ति के लिए उक्त दोनों प्रकार के संयम को अनिवार्य बताया है।”

“इन्द्रिय संयम के लिए मन-संयम आवश्यक है। मन को वश में करके ही इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है।”

“अपभ्रंश के जैन कवियों ने तथा कबीर ने ऐहिक सुख तथा पारमार्थिक सुख के साथ-साथ सामाजिक अभ्युत्थान के लिए संयम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। यदि आज मानव मनीषियों द्वारा प्रतिपादित संयम के महत्त्व को स्वीकार कर अपनी उद्दाम और उच्छृंखल वासनाओं को नियंत्रित करने का प्रयत्न करे तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सौहार्द्र से अभिभूत हो, उनकी रक्षा में तत्पर हो जाये तो निश्चय ही वह स्वयं असीम आत्मिक सुख का रसास्वादन करने के साथ-साथ समाज को भी भयमुक्त स्वच्छ वातावरण प्रदान कर उसके सुख-शान्ति में सहायक बन सकता है।”

“भाषिक दृष्टि से हिन्दी में अपभ्रंश और प्राकृत की परम्पराएँ संस्कृत की तुलना में कहीं अधिक सुरक्षित हैं। इसका कारण यह है कि भाषिक विकास की दृष्टि से हिन्दी अपभ्रंश की ठीक पीठ पर आती है। फलस्वरूप हिन्दी अपभ्रंश की सीधी/सहज वारिस ठहरती है।”

“हिन्दी में कुछ ऐसे देशज शब्द प्रचलित हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती। ऐसे शब्दों का सीधा सम्बन्ध मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा विशेषतः प्राकृत से प्रमाणित होता है। ये शब्द हैं - उथल-पुथल, उलटा, उड़ीस, उड़द, ऊबना, ओढ़ना/नी, ओजदार/ओझराहा, कहार, कोयला, कोल्हू, खिड़की, चावल, झमेला, झाड़, झूठ, ठल्ला (निठल्ला), डाली, डौआ, ढेकी, ढकनी, तागा इत्यादि।”

“अपभ्रंश के गर्भ से जन्म लेनेवाली भाषा हिन्दी पर अपभ्रंश के साथ-साथ प्राकृत का भी अत्यधिक प्रभाव है। प्राकृत के काव्यरूप कवि - परम्पराएँ, नख-शिख-वर्णन, ऋतु वर्णन, शृंगार के दोनों पक्षों के सांगोपांग वर्णन-चित्रण इत्यादि से प्रभावित हिन्दी-काव्य ने उनके भाव को ही नहीं अपनाया बल्कि कई बार भावों के वर्णन-चित्रण में प्राकृत के औपम्य-विधान को भी हू-ब-हू उसी रूप में ग्रहण किया।”

“प्राकृत साहित्य का विद्यापति पर प्रभाव न केवल शृंगार-वर्णन-प्रसंग में देखा जाता है बल्कि विद्यापति की अवहट्टु भाषा में रचित वीररसपरक रचनाओं - ‘कीर्तिलता’ और ‘कीर्तिपताका’ पर भी प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।”

इस अंक के प्रकाशन के लिए जिन विद्वान् लेखकों ने अपनी रचनाएँ भेजकर हमें सहयोग प्रदान किया हम उनके आभारी हैं।

संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्ताओं के भी आभारी हैं। मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. जयपुर धन्यवादार्ह है।

डॉ. कमलचन्द सोगाणी

स्वयंभू पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी (राजस्थान) द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर द्वारा अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं पर 'स्वयंभू पुरस्कार' दिया जाता है। इस पुरस्कार में 11,001/- (ग्यारह हजार एक) रुपये एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जाता है।

पुरस्कार हेतु नियमावली तथा आवेदन-पत्र प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय (दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-4) से पत्र-व्यवहार करें।

निशा अब जा रही है

पहय पओस पणासेंवि णिग्गय।
हत्थि-हड व्व सूर-पहराहय ॥ १ ॥
णिसियरि व्व गय घोणावड्ढिय।
भग्ग-मडप्फर माण-कलड्ढिय ॥ २ ॥
सूर-भएण णाडँ रणु मेल्लेँवि।
पइसइ णयरु कवाडँ पेल्लेँवि ॥ ३ ॥
दीवा पज्जलन्ति जे सयणेँहिँ।
णं णिसि वल्लेँवि णिहालइ णयणेँहिँ ॥ ४ ॥
उट्टिउ रवि अरविन्दाणन्दउ।
णं महि-कामिणि-केरउ अन्दउ ॥ ५ ॥
णं सञ्झाएँ तिलउ दरिसाविउ।
णं सुकइहेँ जस-पुञ्जु पहाविउ ॥ ६ ॥
णं मम्भीस देन्तु वल-पत्तिहेँ।
पच्छल्लेँ णाडँ पधाइउ रत्तिहेँ ॥ ७ ॥
णं जग-भवणहोँ वोहिउ दीवउ।
णाडँ पुणु वि पुणु सो ज्जे पडीवउ ॥ ८ ॥

घत्ता— तिहुअण-रक्खसहोँ दारेँवि दिसि-वहु-मुह-कन्दरु।
उवरें पईसरेंवि णं सीय गवेसइ दिणयरु ॥ ९ ॥

पउमचरिउ 41.17

— सूर्य के प्रहारों से आहत होकर हस्तिघटा के समान रात्रि के प्रहर नष्ट होकर चले गये। निशाचरी के समान घोड़े की नाक के समान वक्र, भग्नमानवाली और मान से कलंकित रात्रि सूर के भय से जैसे रण छोड़कर किवाड़ों को खोलकर नगर प्रवेश करती है। शयनकक्षों में जो दीप जल रहे थे, मानो रात्रि अपने नेत्रों से मुड़कर देख रही थी। कमलों को आनन्द देनेवाला सूर्य उठा मानो धरतीरूपी कामिनी का दर्पण हो? मानो सन्ध्या ने अपना तिलक प्रदर्शित किया हो, मानो सुकवि का यश चमक रहा हो, मानो राम की पत्नी को अभय देते हुए जैसे रात्रि के पीछे दौड़ा हो, मानो विश्वरूपी भवन में दीपक जला दिया गया हो। जैसे वह बार-बार वहीं प्रदीप्त हो रहा हो। त्रिभुवनरूपी राक्षस को दिशारूपी वधू की मुखरूपी गुफा को फाड़कर और उदर में प्रवेश कर मानो दिनकर सीतादेवी को खोज रहा है।

— अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

निशा अब जा रही है

श्री मिश्रीलाल जैन

सूर्य के प्रहारों से
आहत घटा से
नष्ट होकर जा रहे
प्रहर निशा के।

निशाचरी की अश्व
जैसी नासिका
खंडित कलंकित
सूर्य से भयभीत होकर
छोड़ कर के जा रही
रणक्षेत्र
पट खोलकर
प्रवेश करने
निज नगर में।

शयन-कक्ष के दीप
मुड़कर देखते हैं
निशा अब जा रही है
सूर्य जागा, लगा जैसे
धरा रूपी कामनी का
आईना हो,
लगा संध्या ने प्रकाशित
किया मंगल तिलक अपना
या सुकवि का यश
प्रकाशित हो रहा हो।

अभय देते राम
सीता की खोज में
सूर्य दौड़ा रात के पीछे
विश्वरूपी भवन में
दीपक जलाया
त्रिभुवनरूपी राक्षस
की दिशारूपी वधू
का मुख फाड़कर
प्रवेश करता दिवाकर
खोजने सीता।

अश्रु जल से
बुझाती थी
विरह अग्नि
स्नेह की दीवार पर
जितने बने थे चित्र
धुँधले पड़ गये
विश्वास के मैले
धुएँ से।

पुराना पोस्ट ऑफिस रोड,
गुना (म.प्र.) 473001

अपभ्रंश के जैन कवि और संत कबीर के दोहों में संयम की भूमिका

— डॉ. सूरजमुखी जैन



संसार का प्रत्येक प्राणी जीना और सुख से जीना चाहता है। वह अहर्निश सुख के साधनों को जुटाने के लिए बेचैन रहता है। मानव ने सुख प्राप्ति के लिए पंखे, कूलर, एयरकंडीशनर, हीटर, कम्प्यूटर, रेल, वायुयान आदि अनेक साधन जुटाये। सुरक्षा के लिए अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र ही नहीं परमाणु बम, मिसाइल आदि अनेक घातक उपकरणों का अविष्कार किया। किन्तु उसे सुख-शान्ति नहीं मिली, उसका जीवन सुरक्षित न हो सका, अपितु ज्यों-ज्यों साधन प्राप्त होते गये उसकी अतृप्ति, उसकी विक्षिप्तता, उसकी विह्वलता बढ़ती गयी। आज बालक, वृद्ध, युवा, निर्धन, धनी, स्त्री, पुरुष सभी का जीवन तनावग्रस्त है। अखिल विश्व में भय और आतंक का वातावरण बना हुआ है। उसका एकमात्र कारण है - असंयम, बढ़ती हुई अनियमित इच्छाएँ।

आत्मिक अभ्युत्थान और समाज के विकास में संयम की अहं भूमिका है। संयम के द्वारा ही समाज में सबका जीवन निरापद हो सकता है और संयम के द्वारा ही जीव शाश्वत सुख - आत्मसुख को प्राप्त कर सकता है।

सम्यक् प्रकार से अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना ही संयम है। यह संयम दो प्रकार का है - इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम। इन्द्रिय-विषयों में अत्यधिक आसक्ति का न होना इन्द्रिय-संयम है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस - इन छः काय के जीवों की रक्षा करना प्राणि-संयम है। प्राणि-संयम के द्वारा छः काय के जीवों की रक्षा तथा इन्द्रिय संयम के द्वारा विषय-भोगों के प्रति तीव्र और असीम आसक्ति को कम करके मानव स्वयं भी तनावमुक्त जीवन जी सकता है और अपने आस-पास के वातावरण को भी स्वच्छ बना सकता है। जैनदर्शन में अहिंसा और अपरिग्रह को इसीलिये सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है।

अपभ्रंश के जैन कवियों तथा संत कबीर ने सुख-प्राप्ति के लिए उक्त दोनों प्रकार के संयम को अनिवार्य बताया है।

मुनि रामसिंह अपनी रचना 'पाहुड दोहा' में इन्द्रिय-संयम की आवश्यकता बताते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू विषयों की इच्छा मत कर, विषय कभी भले नहीं होते। सेवन करते समय तो ये मधुर लगते हैं किन्तु बाद में दुःख ही देते हैं -

विसया चिंत म जीव तुहुं विसयण भल्ला होति।
सेवंताहं महुर बढ़ा पच्छइं दुःक्खइं देति ॥ 200 ॥

वे कहते हैं- यदि इन्द्रिय-विषयों के सेवन से सुख की प्राप्ति हो सकती तो भगवान ऋषभदेव, जिन्हें सभी प्रकार के इन्द्रिय-सुख सुलभ थे, उनका त्याग क्यों करते ?

खंतु पियंतु वि जीव जइ पावइ सासय सोक्खु ।
रिसह भंडारउ किं चवइ सयलु वि इन्दिय सोक्खु ॥ 63 ॥

जोइन्दु मुनि ने भी विषयासक्ति को सुख का बाधक और दुःख का कारण कहा है। वे कहते हैं कि रूप से आकृष्ट होकर पतंगे दीपक में जलकर मर जाते हैं, शब्द में लीन होकर हरिण शिकारी के बाणों का शिकार हो जाते हैं, स्पर्श के लोभ से हाथी गढ़े में गिरकर बंधन को प्राप्त होते हैं, सुगन्ध की लोलुपता के कारण भौरे कमल में बन्द होकर काल-कवलित हो जाते हैं और रस के लालची मत्स्य धीवर के जाल में फँसकर मृत्यु का आलिंगन करते हैं। जब पतंगादि एक-एक इन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर विनष्ट हो जाते हैं तो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त मानव की क्या दशा होगी? विचारणीय है -

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासन्ति।
अलिउल गन्धइं मच्छ रसि किम अणुराउ करन्ति ॥ 2.112 ॥ पर. प्र.

महयंदि कवि ने भी दोहा पाहुड में कंचन और कामिनी को सांसारिक विषयों में प्रधान बताते हुए इनके प्रलोभन से सावधान रहने को कहा है -

इंपिय धरि पंचेन्दियहं णिय णिय विसहं जेति।
किं ण पेच्छइं झाणट्ठयइं जिण उपएस कहंत ॥ 101 ॥

कबीर के विचार से भी विषय-वासनाओं से कभी तृप्ति नहीं हो सकती। वे भी कहते हैं कि यदि सांसारिक वैभव-विलास तथा विषय-वासनाओं के सेवन से ही सुख की प्राप्ति होती तो बड़े-बड़े समृद्धिशाली राजा-महाराजा अपने अतुल वैभव को छोड़कर वन का मार्ग क्यों ग्रहण करते? अतः विषय-वासनाओं की आसक्ति दुःख का कारण है। सच्चे सुख की प्राप्ति तो इनसे विमुख होने पर ही हो सकती है, वे कहते हैं -

काहे रे मन दह दिसि धावै, विसिया संगि संतोस न पावै।
जहाँ-जहाँ कलपै तहाँ-तहाँ बंधना, रतन को थाल कियौ तै रचना।
जो पै सुख पड़यतु रज माहीं, तो राज छांडि कत वन को जाहीं।
आनन्द सहित तजौ विस नारी अब क्या झीषै पतित भिखारी।
कहै कबीर यहु सुख दिन चारि तजि विसया भजि दीन मुरारि।¹

मन संयम - इन्द्रिय संयम के लिए मन संयम आवश्यक है। मन को वश में करके ही इन्द्रियों को वश में किया जा सकता है। इस मन की गति बड़ी विषम है। इसे रोकना बड़ा कठिन है। यह बार-बार इन्द्रिय-सुखों से आकृष्ट होकर उसे पाने के लिए लालायित रहता है। जोइन्दु मुनि पाँचों इन्द्रियों के नायक मन को वश में करने का निर्देश करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के पत्ते अवश्य सूख जाते हैं उसी प्रकार मन को वश में करते ही पाँचों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। अतः सर्वप्रथम इस मन को ही वश में करना चाहिये -

पंचहं णायुक वसि करहु जेण होति वसि अण्ण।

मूल विणट्ठइ तरु वरहं, अवसइं सुकूइ पण्ण॥ 2.140 ॥ पर. प्र.

जिसका मनरूपी जल विषय-कषायरूपी वायु के झोंके से क्षुब्ध नहीं होता उसी की आत्मा निर्मल होती है और वही निराकुल होता है -

विसय-कसायहिं मण-सलिलु णवि डहुलिज्जइ जासु।

अप्पा णिम्मलहोइ लहु वढ। पंचक्खु वि तासु॥ 2.156 ॥ पर. प्र.

कबीर भी इस मतवाले मन को अंकुश दे-देकर मोड़ते रहने को कहते हैं -

मैमंता मन मारि रै घट ही माहै धेरि।

जब ही चालै पीढि दै अंकुस दै दै मोरि ।

उनके अनुसार इस मन के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर ही आत्मा को सुख की प्राप्ति हो सकती है -

मैमंता मन मारि रै, नान्हा करि करि पीसि।

तव सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीसि।²

कबीर कहते हैं कि मन की वृत्तियों को बाह्य विषयों से विमुख कर अन्तर्मुखी कर देने से वह विकार-मुक्त होकर विशुद्ध बन जाता है -

कहत विचार मन ही मन उपजी ना कहीं गया न आया।
कहै कबीर संसा सब छूटा रामरतन धन पाया।¹

प्राणि रक्षा - प्राणिरक्षा से तात्पर्य है पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक - इन छः काय के जीवों की रक्षा करना। मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, पर्वत, नदी, सरोवर, सागर आदि सभी जीवन्त प्राणी हैं और सभी मिलकर एक स्वच्छ, सुन्दर तथा सुखद पर्यावरण का निर्माण करते हैं। इनमें से किसी को भी नष्ट करने अथवा कष्ट देने से पर्यावरण में विघटन होता है। इसीलिये हमारे तीर्थकरों ने ऋषि, महर्षि और विचारकों ने उक्त छः काय के जीवों की रक्षा का उपदेश दिया है।

आज मानव की दिनों-दिन बढ़ती हुई भोगलिप्सा के कारण होनेवाले भूखनन, वृक्षोन्मूलन, समुद्रमन्थन, पर्वत-भेदन आदि के कारण जहाँ पर्यावरण-प्रदूषण का विकट संकट उपस्थित है वहीं निरपराध पशुओं से लेकर पंचेन्द्रिय मनुष्यों तक के शोषण, अपहरण तथा अकारण हनन से विश्व का संपूर्ण वातावरण विषाक्त बना हुआ है।

अपभ्रंश के जैन कवियों के अनुसार जो उक्त छः काय के जीवों की रक्षा में तत्पर रहता है और अहिंसा को परम धर्म मानकर चलता है वही महामानव है। जैन कवि जोइन्दु कहते हैं कि सभी जीव समान हैं। मूर्खजन अज्ञान के कारण उनमें भेदभाव करते हैं, विवेकीजन सबको समान समझते हैं -

जीवहं तिहुयण संठियउ मूढा भेउ करंति ।

केवलणाणिं णाणि फुड सयल वि एक्कु मुणांति ॥2.96॥ पर. प्र.

मुनि रामसिंह कहते हैं कि न केवल मनुष्यों और पशु-पक्षियों में ही अपितु वनस्पति में भी वही आत्मा है; जो मनुष्य में है। अतः वनस्पतियों को भी कष्ट नहीं देना चाहिये -

पत्तिय तोड़हिं तड़तड़हणाइ पड़दठा उट्टु।

एव म जाणहि जोड़या को तोड़ को तुट्टु ॥158॥ पा. दो.

रामसिंह के अनुसार पत्ती, पानी, तिल, दर्भ - इन सबमें समान जीव है। अतः इन वस्तुओं को तोड़कर परमात्मा के चरणों में चढ़ाने से मोक्ष की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती -

पत्तिय पाणिय दब्भ तिल सव्वइं जाणि सवण्णु।

जं पुणु मोक्खहं जाइ वढ, तं कारणु कुइ अण्णु॥159॥ पा. दो.

वे कहते हैं - हे योगी। तू पत्तियों को मत तोड़ और फलों पर भी हाथ मत बढ़ा। जिस परमात्मा पर चढ़ाने के लिए इन्हें तोड़ता है उस परमात्मा को ही इन पर चढ़ा दे -

पत्ति तोड़ि म जोड़या फलहिं जि हत्थु म वाहि।

जमु कारणि तोडेहि तुहं सो सिउ एत्थु चढहि॥160॥पा. दो.

कबीर ने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि मनुष्यों में ही नहीं अपितु पशु-पक्षियों, वृक्षों-वनस्पतियों आदि में भी समान जीव की कल्पना की है। वे कहते हैं कि जो आत्मा परमात्मा में है, वहीं संसार के सभी जीवधारियों में है। अतः न कोई बड़ा है न कोई छोटा - सभी समान हैं -

नहीं को ऊंचा नहीं को नीचा जाका पयण्ड- ताही कौ सींचा।

जो तू बांभन वंभनी जाया तो आन वाढ ह्वै क्यों नहिं आया।

जो तू तुरक तुरकनी जाया तो भीतरि खतना क्यों न कराया।

कहै कबीर मधिम नहिं कोई सो मधिम जा मुख राम न होई।

जैसे विभिन्न वर्णवाली अनेक गाय का दूध एक-सा ही होता है वैसे ही विभिन्न शरीर में स्थित आत्मा ही परमात्मा है -

सोऽहं हंसा एक समान, काया के गुन आनहिं आन।

माटी एक सकल संसारा बहुविध भांडे गढ़े कुंभारा॥

गंध वरन दस दुहिए गाय एक दूध देखौ पतियाय।

कहै कबीर संसा करि दूरि त्रिभुवन नाथ रहया भरिपूर॥53॥

अतः किसी भी जीव का वध करना अथवा उसे कष्ट देना घोर महान अधर्म है। वे कहते हैं कि जो सब जीवों को समान भाव से देखता है और दया धर्म का पालन करता है उसे ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। कबीर जीव हिंसा करनेवाले को सबसे बड़ा अधर्मी समझते हैं। वे उसे फटकारते हुए कहते हैं -

जीव बधत अरु धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।

आपुनि तौ मुनिजन ह्वै बैठे कासनि कहौ कसाई।

कबीर देवी-देवताओं के सामने बलि चढ़ानेवाले की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि जो लोग निर्जीव प्रतिमा की पूजा के लिए सजीव का बलिदान करते हैं उनका अन्तिम काल बड़ा भयानक होता है -

सरजीउ काटहि निरजीउ पूजहिं अन्तकाल कउ भारी।

राम नाम की गति नहिं जानी लै डूबै संसारी।

देवी देवा पूजहिं डोलहिं पारब्रह्म नहिं जाना।

कहत कबीर अकुल नहिं चेतिया विखिआ सिउ लपटाना।

इस प्रकार अपभ्रंश के जैन कवियों ने तथा कबीर ने ऐहिक सुख तथा पारमार्थिक सुख के साथ-साथ सामाजिक अभ्युत्थान के लिए संयम को सर्वाधिक महत्व दिया है। यदि आज मानव

मनीषियों द्वारा प्रतिपादित संयम के महत्व को स्वीकार कर अपनी उद्दाम और उच्छृंखल वासनाओं को नियंत्रित करने का प्रयत्न करे तथा प्राणिमात्र के प्रति प्रेम और सौहार्द्र से अभिभूत हो, उनकी रक्षा में तत्पर हो जाए तो निश्चय ही वह स्वयं असीम आत्मिक सुख का रसास्वादन करने के साथ-साथ समाज को भी भयमुक्त स्वच्छ वातावरण प्रदान कर उसके सुख-शान्ति में सहायक बन सकता है।

-
1. पद-87, कबीर ग्रन्थावली।
 2. 9, मन को अंग, कबीर ग्रन्थावली।
 3. 20, मन को अंग, कबीर ग्रन्थावली।
 4. 23, जीवाजी को अंग, कबीर ग्रन्थावली।
 5. पद-41, कबीर ग्रन्थावली।
 6. पद-39, कबीर ग्रन्थावली।
 7. सन्त कबीर, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 49, पद-45।

अलका, 35, इमामबाड़ा
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा में 'पउमचरिउ'

— सुश्री मंजु शुक्ल



'रामकथा' विश्व वाङ्मय में भारतीय संस्कृति, धर्म साधना तथा काव्यचेतना की सशक्त प्रतिनिधि है। रामकथा भारतवर्ष की सर्वाधिक प्रचलित कथा है, इस पर भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विदेशों में भी विपुल साहित्य रचा गया है। रामकथा की लोकप्रियता का सर्वप्रमुख कारण राम का 'शक्ति, शील तथा सौंदर्य' के गुणों से समन्वित व्यक्तित्व है, जिसमें 'ब्रह्मत्व' तथा 'मनुजत्व' की सहस्थिति सर्वत्र परिलक्षित होती है। लौकिकता तथा अलौकिकता को एक साथ प्रतिष्ठित करते हुये मानवता को इतना उच्च एवम् उदात्त संदेश देने वाली सर्वांगीण कथा संभवतः अन्यत्र दुर्लभ है।

रामकथा हिंदू धर्मग्रंथों तथा हिन्दी साहित्य में ही काव्य सृजन का विषय नहीं बनी, इसे जैनों तथा बौद्धों ने भी अपना काव्यविषय बनाया। पौराणिक चरित्रों में राम तथा कृष्ण का चरित्र मुख्य था। इन धार्मिक लोकनायकों को आधार बनाकर जैनाचार्यों ने पौराणिक चरित काव्यों की रचना की। जैनियों ने इन लोकनायकों को जैनधर्म के आदर्शों के अनुसार प्रतिष्ठित किया।

रामकथा अपभ्रंश के पूर्व ही संस्कृत, पालि तथा प्राकृत के धर्मानुयायियों द्वारा जनसामान्य में प्रचारित की जा चुकी थी। संस्कृत में वर्णित रामकथा ही परवर्ती साहित्यकारों के लिये काव्य-सृजन का आधार बनी। आदिकवि वाल्मीकि की रामायण को ही किंचित परिवर्तन तथा

परिवर्द्धन के साथ बौद्धों तथा जैनाचार्यों ने भी अपनाया। यद्यपि वाल्मीकि रामायण से यह ज्ञात होता है कि रामकथा उनके समय से पूर्व भी प्रचलित थी¹। पालिभाषा में रामकथा जातक साहित्य में प्राप्त होती है। दशरथ जातक में रामकथा का सर्वाधिक प्राचीन बौद्ध रूप मिलता है। इसी तरह 'अनामकं जातकम्' और 'दशरथ कथानकम्' में भी राम की कथायें मिलती हैं। इनका मूल पालि रूप बाद में अप्राप्य हो गया। चीनी अनुवाद के रूप में इन कथाओं की संरक्षा हो सकी और वहीं से ये पुनः प्राप्त हुई हैं²।

प्राकृत में विमलसूरि कृत 'पउमचरिउ' सर्वाधिक प्राचीन रामकथा है।

अपभ्रंश साहित्य में भी संस्कृत तथा प्राकृत की परम्परा के अनुसार ही किसी महापुरुष - या तीर्थंकर को काव्य विषय बनाने की प्रवृत्ति रही। अपभ्रंश साहित्य में महापुराणों का विषय चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव तथा नौ प्रतिवासुदेव को बनाया गया है। अतः तिरेसठ महापुरुषों के वर्णन के कारण ऐसे ग्रंथों को 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' या 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' कहा गया है। रामकथा के पात्रों को जैनधर्म में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। राम, लक्ष्मण तथा रावण की गणना जैनियों ने त्रिषष्टिशलाका पुरुषों में की है। जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक कल्प के त्रिषष्टि महापुरुषों में से नौ बलदेव, नौ वासुदेव तथा नौ प्रतिवासुदेव माने जाते हैं। राम, लक्ष्मण तथा रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव माने गये हैं। जैन धर्मानुसार बलदेव तथा वासुदेव किसी राजा की भिन्न-भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। वासुदेव अपने बड़े भाई बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं और अंततः उसे मार देते हैं। परिणामतः मृत्योपरांत वासुदेव नरक में जाते हैं। बलदेव अपने भाई की मृत्यु के कारण दुःखाकुल होकर जैनधर्म में दीक्षित हो जाते हैं और अंत में मोक्ष प्राप्त करते हैं³। कथा का यह स्वरूप सदैव स्थिर रहता है। जैन धर्म में रामकथा की दो परम्पराएँ दृष्टिगत होती हैं -

— विमलसूरि की परम्परा (संवत् 530, वि.सं. 60),

— गुणभद्राचार्य की परम्परा (955 वि.सं.)

स्वयंभू की रामकथा का मूलस्रोत प्राकृत भाषा में निबद्ध विमलसूरि कृत 'पउमचरिउ' है। 'पउमचरिउ' के विस्तार विवेचन से पूर्व स्वयंभू पूर्व जैन रामकाव्य का विवेचन आवश्यक है। साहित्यिक दृष्टि से विमलसूरि का 'पउमचरिउ' ने सामान्यलोक तथा काव्यजगत् दोनों में ही ख्याति प्राप्त की। 'पउमचरिउ' का अभिव्यंजना पक्ष अत्यन्त सशक्त है, इसके प्रारम्भ में कवि एक उक्ति कहता है -

णामावलयनिबद्धं आयरिय परागयं सव्वं।

बोच्छामि पउमचरियं अहाणुपुव्विं समासेण॥ - 1.8 पउमचरिउ

अर्थात् 'उस पद्मचरित को मैं आनुपूर्वी के अनुसार संक्षेप में कहता हूँ जो आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा है तथा नामावली निबद्ध है।' इस उक्ति में 'णामावलयनिबद्धं' शब्द के संदर्भ में पं. प्रेमी कहते हैं - "विमलसूरि से पूर्व राम का चरित्र केवल नामावली के रूप

में था। उसमें कथा के प्रधान पात्रों के, उनके माता-पिता, स्थान तथा भवांतर आदि के ही नाम होंगे। वह पल्लवित कथा के रूप में नहीं होगी तथा उसी की विमलसूरि ने विस्तृत चरित्र के रूप में रचना की होगी।'⁴

यहाँ 'आयरिय परागयं' अर्थात् 'आचार्य परम्परा से आगत' शब्द अस्पष्ट सा प्रतीत होता है क्योंकि कालगणना तथा समयतिथि का कोई उल्लेख इसमें नहीं है। इसलिये यह कहना कि आचार्य परम्परा का प्रारम्भ कब से माना जाये असम्भव प्रतीत होता है। डॉ. उपाध्याय का इस सम्बन्ध में मत है कि प्रत्यक्षतः कवि का आशय स्वामी महावीर से है।⁵ परन्तु डॉ. कुलकर्णी का कहना है कि इस सम्बन्ध में कोई दृढ़ आधार नहीं है, आगम ग्रंथ में राम की चर्चा कहीं नहीं है।⁶

परन्तु इन सब तर्क-वितर्कों के उपरांत इतना स्पष्ट है कि विमलसूरि से पूर्व जो रामकथा प्रचलित थी, उसका रूप पूर्णतः विकसित नहीं हो पाया था, अर्द्धविकसित होने के कारण उसमें प्रामाणिकता का भी अभाव था अतः विमलसूरि ने इस परम्परा प्रचलित रामकथा को सत्य, सोपपत्तिक, विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया।⁷ विमलसूरि की रामकथा जैनों के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायों में प्रचलित रही।

विमलसूरि की परम्परा के अनुसार रामकथा का स्वरूप इस प्रकार है - राजा रत्नाश्रव और कैकशी की चार संतान हैं - रावण, कुंभकर्ण, चंद्रनखा तथा विभीषण। राजा रत्नाश्रव ने अपने पुत्र रावण का नाम दशानन इस कारण रखा क्योंकि उन्होंने सर्वप्रथम जब अपने शिशु रावण को देखा तो उनके गले में पड़ी माला में उन्हें रावण के दस सिर दिखाई दिये थे। विमलसूरि की कथा में इंद्र, वरुण, यम प्रभृति का चित्रण देवरूप में न होकर राजा के रूप में हुआ है। हनुमान ने रावण की ओर से वरुण के विरुद्ध युद्ध करके चंद्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा से विवाह किया। खरदूषण इसमें रावण का भाई नहीं है वह किसी विद्याधर वंश का राजकुमार है, खरदूषण का विवाह रावण की बहन चंद्रनखा से होता है तथा शम्बूक उसका पुत्र है। विमलसूरि ने रावण को एक नवीन रूप में चिन्हित किया है। विमलसूरि की रामकथा में रावण एक खल पात्र नहीं है वरन् अनेक सद्गुणों से युक्त एक उदात्त, गंभीर श्रेष्ठ पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया है।

इस रामकथा में राजा दशरथ की चार रानियाँ हैं - कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा सुप्रभा, जिनके क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न पुत्र हैं।

राजा जनक की रानी विदेहा है, उनके एक पुत्री सीता तथा पुत्र भामण्डल है।

विमलसूरि ने सीताहरण का प्रसंग परम्परा से हटकर दिखाया है इसमें सीताहरण का कारण लक्ष्मण द्वारा भूल से शम्बूक को मारा जाना था, शम्बूक सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति हेतु उस समय तपस्या कर रहा था। सीताहरण के समय लक्ष्मण वन में तथा राम सीता के पास कुटी में थे। लक्ष्मण राम को सिंहनाद का संकेत बताकर जाते हैं। रावण लक्ष्मण के समान सिंहनाद करता है जिसे सुनकर राम वन चले जाते हैं तथा इसी मध्य रावण सीताहरण कर लेता है। राम रावण के साथ युद्ध में विजयी होने के उपरांत अपनी आठ हजार तथा लक्ष्मण तेरह हजार पत्नियों के

साथ अयोध्या लौटकर राजकार्य सँभालते हैं। अग्नि-परीक्षा में सफल होने के उपरांत सीता भूमि प्रवेश नहीं करती हैं वरन् एक आर्यिका के पास जाकर जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण करती हैं।

राम तथा लक्ष्मण का अंत भी भिन्न रूप में दिखाया गया है। एक दिन दो स्वर्गवासी देव लक्ष्मण को विश्वास में लेकर कहते हैं कि राम की मृत्यु हो गयी, यह समाचार सुनकर शोकाकुल लक्ष्मण की मृत्यु हो जाती है तथा लक्ष्मण नरक जाते हैं। लक्ष्मण की मृत्यु के पश्चात् राम लक्ष्मण की अंत्येष्टि करके जैनधर्म में दीक्षित हो जाते हैं तथा साधनोपरांत मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसी प्रसंग पर कथा समाप्त होती है।

विमलसूरि के पश्चात् रविषेणाचार्य ने वि.सं. 733 में संस्कृत भाषा में 'पद्मपुराण' की रचना की। यह कथा विमलसूरि कृत 'पउमचरिउ' से इतनी समानता रखती है कि इसे 'पउमचरिउ' का छायानुवाद कहा जाता है।^१

गुणभद्र कृत 'उत्तरपुराण' (955 वि.सं.) की रामकथा का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है - राजा दशरथ काशी देश में वाराणसी के राजा थे। राम की माँ का नाम सुबाला तथा लक्ष्मण की माँ का नाम कैकेयी था। भरत, शत्रुघ्न किसी अन्य देवी के पुत्र थे। सीता रावण की रानी मंदोदरी की पुत्री थी। ज्योतिषियों द्वारा सीता को विनाशकारिणी घोषित किये जाने के बाद रावण उन्हें एक मंजूषा में डालकर मारीच द्वारा मिथिला देश में गड़वा देता है। हल की नोक से उलझी मंजूषा बाहर निकाली गयी, उसमें से सीता निकली। सीता जनक को इस प्रकार प्राप्त हुई। जनक ने सीता को पुत्रीवत् पाला तथा कालांतर में राजा जनक अपने यज्ञरक्षक राम के साथ उनका विवाह कर देते हैं। राम तथा लक्ष्मण जनक की आज्ञा से वाराणसी में ही रहने लगे। राजा जनक ने रावण को अपने यज्ञ में निमंत्रित नहीं किया था, इस अपमान के कारण तथा नारद से सीता के रूप की प्रशंसा सुनकर रावण स्वर्णमृग का रूप धारण करके सीताहरण कर लेता है। इस हरण में मारीच उसकी सहायता करता है। हरण के समय राम-सीता वाराणसी के समीप चित्रकूट वाटिका में विचरण कर रहे थे। गुणभद्र की कथा में हनुमान सीता-उद्धार हेतु राम की सहायता करते हैं। इस कथा में लक्ष्मण रावण का सिर काटते हैं। राम दिग्विजय के उपरान्त लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौटते हैं। इसमें राम की आठ हजार तथा लक्ष्मण की सोलह हजार रानियाँ बताई गई हैं। इस कथा में लक्ष्मण की मृत्यु किसी असाध्य रोग के कारण होती है, लक्ष्मण की मृत्यु से राम अत्यंत विक्षुब्ध हो जाते हैं। लक्ष्मण की मृत्यु के उपरांत राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुंदर को राजपद तथा सीता के पुत्र अजितजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके जैनधर्म में दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सीता भी अनेक रानियों के साथ जैनधर्म में दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त करती हैं।

गुणभद्र ने अपनी कथा में सीता-स्वयंवर, धनुषयज्ञ, कैकेयी-हठ, राम-वनवास, पंचवटी, दंडकवन, जटायु, सूर्पनखा, खरदूषण, सीता-अपवाद आदि प्रसंगों का उल्लेख नहीं किया है। सीता-जन्म विष्णुपुराण के ढंग का है।^१ इस कथा में दशरथ को वाराणसी का राजा बताया गया है, यह प्रसंग बौद्ध जातक कथा के समान है।

गुणभद्र द्वारा वर्णित रामकथा मात्र दिगम्बर संप्रदाय तक प्रचलित रही।¹⁰

यतः जैनाचार्यों द्वारा रचित साहित्य का मुख्य उद्देश्य जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करना था अतः कथा के मुख्य पात्रों को अंत में जैनधर्म में दीक्षित होते दिखाया गया है।

गुणभद्र कृत 'उत्तरपुराण' में सीता के आठ पुत्रों का उल्लेख किया गया है परन्तु उनमें लव-कुश का नाम नहीं मिलता है। दशानन इस कथा में विनमि विद्याधर वंश के पुलस्त्य का पुत्र था। शत्रुओं को रूलाने के कारण वह रावण कहलाया।¹¹

इस रामकथा में सीता निर्वासन तथा लव-कुश जन्म का उल्लेख नहीं है।¹² परवर्ती रचनाओं में महाकवि पुष्पंदत के 'उत्तरपुराण' तथा चामुण्डराय पुराण में गुणभद्र की कथा का अनुकरण द्रष्टव्य होता है।¹³

जैन रामकथात्मक साहित्य में असम्भव को सम्भव बनाने की प्रवृत्ति रही है। इसमें वानर तथा राक्षसों को विद्याधर वंश की भिन्न-भिन्न शाखायें माना गया है। जैनियों ने विद्याधरों को मनुष्य माना है तथा विद्याधर इन्हें इसलिए कहा जाता था क्योंकि ये अनेक विद्याओं में सिद्धहस्त होते थे।

वानरवंशी विद्याधरों की ध्वजा, महल तथा छत के शिखरों पर वानरचिह्न होते थे इसलिए उन्हें वानर कहा जाता था।¹⁴

अपभ्रंश साहित्य में जिन रचनाकारों ने रामकाव्य का सृजन किया, उन्होंने विमलसूरि, रविषेणाचार्य तथा गुणभद्राचार्य की रामकथाओं का ही आधार लिया है। इसलिए पूर्ण मौलिकता इन काव्यों में भी नहीं प्राप्त होती है क्योंकि कई प्रसंगों को परम्परागत ढंग से वर्णित किया गया है। कतिपय प्रसंगों के संदर्भ में नवीन स्थापनायें की गयी हैं।

स्वयंभू अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा के प्रथम कवि हैं। इनका समय 8वीं शताब्दी ई. है। इन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि भी कहा जाता है। पउमचरिउ की रचना धनंजय के आश्रय में हुई थी। इस ग्रंथ में पाँच काण्ड, बारह हजार श्लोक तथा नब्बे संधियाँ हैं। इसमें तिरासी संधियों की रचना स्वयंभू ने तथा शेष सात संधियों की रचना उनके पुत्र त्रिभुवन ने की थी। संधियों को प्रत्येक काण्ड में विभक्त कर दिया गया है, यह वर्गीकरण इस प्रकार है -

— विद्याधर काण्ड	:	20 संधि,
— अयोध्या काण्ड	:	22 संधि,
— सुंदर काण्ड	:	14 संधि,
— युद्ध काण्ड	:	21 संधि,
— उत्तर काण्ड	:	13 संधि।

संधियाँ कडवकों में विभक्त हैं, पउमचरिउ में कुल 1269 कडवक हैं। स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' संस्कृत 'पद्मचरित' का अपभ्रंश रूप है। जैन परम्परा में 'पद्म' को राम का पर्यायवाची माना जाता है। यद्यपि स्वयंभू ने अपनी इस रामकथा को 'पउमचरिउ' शीर्षक से

अभिहित किया है परंतु 'पउमचरिउ' के अतिरिक्त स्वयंभू ने अपनी इस रामकथा हेतु अन्य नामों का भी उल्लेख किया है - पौमचरिय¹⁵, रामायणपुराण¹⁶, रामायण¹⁷, रामएवचरिय¹⁸, रामचरिय¹⁹, रामायणभाव²⁰, राघवचरिउ²¹, रामकहा²²। 'पउमचरिउ' की सबसे प्राचीन प्रति भंडारकर इंस्टीट्यूट, पूना में है जो 1564 ई. में ग्वालियर में प्रतिलिपि करके समाप्त हुई थी तथा दूसरी जयपुर में है²³ इसमें पञ्जटिका छंद की आठ-आठ अद्भालियों के उपरांत दोहा या घत्ता छंद रखने का नियम प्राप्त होता है।

स्वयंभू 'पउमचरिउ' के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि उन्होंने इस रामकथा को लिखने की प्रेरणा आचार्य परम्परा से ली है तथा इस आचार्य परम्परा में स्वयंभू रविषेणाचार्य का उल्लेख करते हैं तथा स्वीकारते हैं कि उनका पउमचरिउ रविषेण के 'पद्मचरित' के आधार पर रचित है -

वद्धमाण-मुह-कुहर विणिग्गय । राम-कहा-णइ एह कमागय ॥

पच्छर इन्द्रभूइ आयरिएं । पुणु धम्मेण गुणालंकिएं ॥

पुणु पहवे संसाराराएं । कित्तिहरेण अणुत्तरवाएं ॥

पुणु रविषेणायरिय पसाएं । बुद्धिएं अवगहिय कइराएं ॥ 1,2 प.च.

अर्थात् वर्धमान (तीर्थकर महावीर) के मुखरूपी कंदरा से, यह रामकथारूपी नदी क्रम से प्रवाहित हो रही है। यह शोभित रामकथा तदन्तर इंद्रभूति आचार्य को, फिर गुणों से विभूषित धर्माचार्य को, फिर संसार से विरक्त प्रभवाचार्य को प्राप्त हुई। इसके पश्चात् आचार्य रविषेण के प्रसाद से कविराज ने इसका स्वबुद्धि से अवगाहन किया।

कथा प्रारम्भ करने की रीति विमलसूरि, रविषेण तथा स्वयंभू तीनों की ही एक जैसी है।

आचार्य-परम्परा के सम्बन्ध में एक तथ्य उल्लेखनीय है कि विमलसूरि का स्मरण न तो रविषेण ने किया है और न ही स्वयंभू ने। यहाँ पर आश्चर्य होता है कि जिस कवि की परम्परा का अनुकरण किया उसका ही स्तवन नहीं किया। जबकि आचार्य-परम्परा का उल्लेख लगभग तद्युगीन सभी ग्रंथों में प्राप्त होता है। खैर, ये दोनों ही कवि स्वयंभू के पूर्ववर्ती कवि हैं तथा स्वयंभू ने इन दोनों की कथाओं को कतिपय परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है।

स्वयंभू की 'पउमचरिउ' की रामकथा का प्रारम्भ कुछ लोकप्रचलित शंकाओं के साथ होता है। मगध नरेश श्रेणिक प्रश्न करते हैं²⁴ तथा गौतम गणधर उसका उत्तर देते हैं। गौतम गणधर सर्वप्रथम सृष्टि की रचना का वर्णन करते हैं तदन्तर युगों, कुलकरो, तीर्थकरो, वंशों की उत्पत्ति बताते हैं फिर राक्षसों, वानरों तथा विद्याधरों की लीलाओं का वर्णन करते हैं फिर इक्ष्वाकु वंश का प्रारम्भ तथा इसी वंश में राजा दशरथ का उदय तथा कैकेयी को दिये गये वरदान का उल्लेख करते हैं फिर राजा जनक तथा उनके पुत्र भामंडल की उत्पत्ति तथा भामंडल के विद्याधर द्वारा अपहृत होने की चर्चा करते हैं। अन्त में दशरथसुत राम की उत्पत्ति के साथ कथा विस्तार से प्रारम्भ होती है।

'पउमचरिउ' का प्रारम्भ स्वयंभू प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव की स्तुति से करते हैं -

पमह णव-कमल-कोमल-मवहर-वर-वहल-कीर्ति सोहिल्लं।

उसहस्स पाय-कमलं स-सुरासुर वंदिय सिरसा ॥ 1.1

अर्थात् नवकमलों की भाँति कोमल, सुन्दर तथा उत्तम कांति से शोभित तथा सुर-असुर द्वारा वंदित श्री ऋषभ भगवान के चरणकमलों को मैं सिर से नमन करता हूँ।

स्वयंभू द्वारा वर्णित रामकथा का स्वरूप इस प्रकार है - विपुलाचल के शिखर पर भगवान महावीर स्वामी का समवसरण विराजमान होता है। राजा श्रेणिक प्रश्न करते हैं तथा गौतम गणधर उसका उत्तर देते हैं। स्वयंभू के अनुसार भारत में दो वंश थे - इक्ष्वाकु वंश अर्थात् मानव वंश और विद्याधर वंश।

विद्याधर वंश की परम्परा में ही आदि तीर्थकर ऋषभनाथ राजा हुये। उनके पश्चात् उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती की दीर्घ परम्परा में सगर चक्रवर्ती सम्राट हुये। उन्होंने विद्याधर वंशीय राजा सहस्राक्ष की कन्या तिलककेशी से विवाह किया। राजा सहस्राक्ष राजा मेघवाहन को मार डालता है क्योंकि उसे अपने पिता सुलोचन के बैर का बदला उसे लेना था। इस युद्ध में उसका पुत्र तोयदवाहन जीवित बच जाता है वह अजित जिनेन्द्र के समवसरण में जाकर शरण लेता है जहाँ इंद्र उसे अभयदान देते हैं। अजितनाथ की शरण में पहुँचने के उपरांत सगर के भाई भीम-सुभीम पूर्वजन्म के स्नेह के कारण उसका आलिंगन करते हैं तथा उसे राक्षसविद्या, लंका तथा पाताल लंका प्रदान करते हैं। तोयदवाहन के लंकापुरी में प्रतिष्ठित होने के साथ ही राक्षसवंश की परम्परा की उत्पत्ति होती है।²⁵ इसी परम्परा में कालांतर में रावण का जन्म होता है। रावण के जन्म के समय राक्षसवंश की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी। तोयदवाहन की परम्परा में आगे चलकर कीर्तिधवल का समय आता है, कीर्तिधवल ने अपनी पत्नी के भाई श्रीकण्ठ को वानरद्वीप भेंट में दिया था जिससे वानरवंश का विकास हुआ। इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि 'वानर' चूंकि श्रीकण्ठ के कुलचिह्न थे अतः इससे वानरवंश का विकास माना जाता है।

वानरवंश में स्वयंभू ने हनुमान के पिता पवनंजय की उत्पत्ति, विवाह तथा पराक्रम का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। स्वयंभू ने पवनंजय तथा अंजना के प्रेमालाप तथा रति सम्बंधों को अत्यंत संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है।

राक्षसवंश में वानरवंश में यद्यपि दीर्घकाल से मधुर सम्बन्ध थे परन्तु वानरवंशीय राजा विद्यामंदिर की पुत्री श्रीमाला के स्वयंवर को लेकर दोनों वंशों के मध्य सम्बन्ध कटु हो जाते हैं। इस विवाद में राक्षसवंश पराजित होता है।

रावण के पिता का नाम रत्नाश्रव तथा माँ का नाम कैकेशी था। रावण एक दिन खेल-खेल में भंडारगृह में जाकर तोयदवाहन का नवग्रह हार उठा लेता है जिसमें उसके मुख के दस प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इसी कारण रावण का नाम दशानन पड़ जाता है। रावण ने राक्षसवंश

को उसकी खोयी ख्याति पुनः लौटाई, वह विद्याधरों से प्रतिशोध लेता है। उसने विद्याधर राजा इंद्र को परास्त कर अपने मौसरे भाई वैश्रवण से पुष्पक विमान लिया था। खरदूषण उसकी बहन चंद्रनखा का अपहरण कर लेता है, रावण खरदूषण से बदला लेना चाहता है परन्तु मंदोदरी उसे मना कर देती है। बाली की शौर्यगाथा सुनकर वह बाली पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन करने का प्रयास करता है परन्तु स्वयं परास्त हो जाता है। बाली अन्त में दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

रावण की मृत्यु के संदर्भ में नारद मुनि कहते हैं कि दशरथ तथा जनक की संतानों के द्वारा ही रावण की मृत्यु होगी। यह सुनकर विभीषण दशरथ तथा जनक को मारने का षड्यंत्र रचता है। दशरथ तथा जनक को जब इस षड्यंत्र का पता चलता है तो वे दोनों छद्मवेश में वहाँ से पलायन कर जाते हैं। दशरथ कौतुकमंगल नामक नगर में पहुँचते हैं जहाँ कैकेयी के स्वयंवर की तैयारी हो रही होती है। दशरथ उसमें भाग लेते हैं। कैकेयी उन्हें वरमाला पहना देती है। कैकेयी द्वारा दशरथ को वरमाला पहनाने के कारण अन्य राजा दशरथ पर आक्रमण कर देते हैं। इस युद्ध में कैकेयी दशरथ की सहायता करती है, दशरथ सहायता हेतु प्रसन्न होकर कैकेयी को वरदान देते हैं। दशरथ की चार रानियाँ होती हैं - कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, सुप्रभा, जिनके क्रमशः राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न नामक पुत्र हैं।

राजा जनक के एक पुत्री सीता तथा पुत्र भामंडल होता है। एक विद्याधर पूर्वजन्म के किसी बैर का प्रतिशोध लेने हेतु भामंडल का अपहरण कर लेता है। राजा जनक के राज्य पर बर्बर म्लेच्छों द्वारा आक्रमण किया जाता है जिससे त्रस्त होकर जनक राजा दशरथ से सहायता माँगते हैं। दशरथ राम-लक्ष्मण को उनकी सहायतार्थ भेजते हैं। राम-लक्ष्मण उनके कष्टों का निवारण कर देते हैं। सीता स्वयंवर में राम वज्रावर्त तथा समुद्रावर्त धनुष चढ़ा कर सीता को प्राप्त करते हैं। राम के अन्य भाइयों का विवाह राजा शशिवर्धन की 18 कन्याओं के साथ हो जाता है।

दशरथ वृद्धावस्था के कारण राम का राज्यभिषेक करना चाहते हैं परन्तु कैकेयी राम को वनवास तथा भरत को राज्य देने का वर माँगती है। भरत उस समय अयोध्या में ही थे। स्वयंभू राम के चरित्र का प्रारम्भ राम वनवास के प्रसंग से मानते हैं क्योंकि राम का चरित्र यहाँ से अपनी संपूर्ण विशिष्टताओं के साथ मुखरित होता है।

राम जब गंभीरा नदी को पार करके एक वाटिका में पहुँचते हैं तो भरत उन्हें वापस अयोध्या चलने हेतु प्रार्थना करते हैं परन्तु राम पुनः उनके सिर पर राजपट्ट बाँध देते हैं। भरत जिनमंदिर में प्रतिज्ञा करते हैं कि राम के वापस आते ही वह राज्य राम को समर्पित कर देंगे। सीता तथा लक्ष्मण सहित राम जब वंशस्थल नामक स्थान पर पहुँचते हैं तो वहाँ खरदूषण तथा चंद्रनखा का पुत्र शम्बूक सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति हेतु साधना कर रहा था, लक्ष्मण धोखे से शम्बूक का सिर काट देते हैं। चंद्रनखा पुत्र-वध की सूचना से क्रोधित होकर वध करनेवाले को खोजती है। राम-लक्ष्मण को देखकर उसका विचार परिवर्तित हो जाता है तथा वह उनके समक्ष अनुचित प्रस्ताव रखती है। ऐसा करने पर लक्ष्मण उसे अपमानित करके भगा देते हैं। राम-रावण के संघर्ष

की प्रारंभिक पृष्ठभूमि चंद्रनखा का अपमान है। रावण इस अपमान से क्रोधित हो उठता है तथा प्रतिशोधवश अवलोकिनी विद्या द्वारा सीता का अपहरण कर लेता है। सीता नगर में प्रवेश नहीं करती है अतः उन्हें नंदनवन में ठहरा दिया जाता है। सीता की खोज में सहायता हेतु राम सुग्रीव की सहायता लेते हैं। राम सुग्रीव की पत्नी का उद्धार करते हैं। सुग्रीव हनुमान को संदेश देकर भेजते हैं। सीता संदेश प्राप्त करके प्रतिज्ञानुसार अन्न ग्रहण करती हैं। सीता प्राप्ति हेतु राम-रावण युद्ध होता है। रावण मारा जाता है। राम दिग्विजय करके वापस अयोध्या लौटते हैं। राम लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग कर देते हैं। सीता अपने मामा वज्रजंघ के साथ वन चली जाती हैं। वन में सीता लवण तथा कुश नामक दो पुत्रों को जन्म देती हैं। बड़े होकर वे राम के साथ युद्ध करते हैं। यह ज्ञात होने पर कि ये मेरे ही पुत्र हैं राम उन्हें आलिंगनबद्ध करते हैं। सीता अग्निपरीक्षा देकर दीक्षा ले लेती हैं। लक्ष्मण की मृत्यु होने पर राम लक्ष्मण के मृत शरीर को कंधों पर डालकर छः माह तक भटकते रहते हैं। अन्ततः आत्मबोध होने पर जैनधर्म में दीक्षा ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं।

स्वयंभू की रामकथा पूर्ववर्ती रामकथा से समानता के साथ-साथ भिन्नता भी रखती है वैसे भिन्नता होना स्वाभाविक भी है क्योंकि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि यह कथा णामावलियनिबद्ध आयरिय परागयं' है अतः यदि प्रत्येक रचनाकार आचार्य परम्परा से आयी कथा में अपनी इच्छानुसार किंचित् भी परिवर्तन करेंगे तो स्वाभाविक है कि मूल कथा का रूप विकृत हो जायेगा। परन्तु इस प्रसंग को विस्तार न देकर उन तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्वयंभू ने 'आचार्य परम्परा से आगत' कथा को शब्दशः ग्रहण नहीं किया वरन् उसमें कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावना की तथा कतिपय स्थलों को बहिष्कृत भी किया।

स्वयंभू अपने ग्रंथ के प्रारम्भ में प्रथम तीर्थंकर स्वामी ऋषभ की अभ्यर्थना करते हैं। विमलसूरि तथा रविषेण ने अपने काव्य के आरम्भ में अन्तिम तीर्थंकर स्वामी महावीर की प्रार्थना की है। पूर्ववर्ती रामकाव्यों में चार वंशों की उत्पत्ति का वर्णन है जबकि स्वयंभू ने दो वंशों - इक्ष्वाकु तथा विद्याधर वंश का ही उल्लेख किया है। रविषेण के पद्मचरित में हनुमान की सास का नाम हृदयवेगा है जबकि स्वयंभू के 'पउमचरित' में मनोवेगा नाम है। स्वयंभू ने रविषेणाचार्य की भाँति प्रेम तथा रति सम्बन्धों का अश्लील वर्णन नहीं किया है तथा न ही इस प्रसंग को अनावश्यक विस्तार दिया है।

नारद-सीता प्रसंग में भी स्वयंभू विमल तथा रविषेण की अपेक्षा भिन्न मत प्रतिपादित करते हैं। स्वयंभू के अनुसार सीता नारद का प्रतिबिम्ब दर्पण में देखकर मूर्च्छित हो जाती है।¹²⁶ जबकि विमल तथा रविषेण के अनुसार सीता नारद को अपने कक्ष में आते देखकर भयभीत होकर छिप जाती हैं। यहाँ पर स्वयंभू की कल्पना अधिक कोमल तथा हृदयस्पर्शी है। सीता की सुकुमारता का सुंदर चित्रण है। सीता के इस व्यवहार से नारद स्वयं को अपमानित अनुभव करते हैं तथा सीता से प्रतिशोध लेने के लिये एक षड्यंत्र करते हैं। स्वयंभू के रामकाव्य में नारद का चित्र इस प्रसंग में अधिक स्वाभाविक लगता है। स्वयंभू के नारद पूर्ववर्ती रामकाव्यों के नारद की

भाँति भामंडल के उद्यान में छिपकर सीता का चित्र नहीं रखते वरन् प्रत्यक्ष रूप से भामंडल के सम्मुख उपस्थित होकर सीता का चित्र भामंडल को दिखाकर उसे आसक्त करने का प्रयास करते हैं।

दशरथ विरक्ति का प्रसंग भी स्वयंभू ने अधिक उदारता तथा परिपक्वता के साथ व्यंजित किया है। स्वयंभू ने सुप्रभा का चित्रण अधिक स्पष्टता के साथ-साथ गरिमामय रूप में किया है। जिन प्रतिमा के प्रक्षालन का गंधोदक लेकर कंचुकी अपनी वृद्धावस्था के कारण कुछ देर से रानी सुप्रभा के पास पहुँचता है यद्यपि रानी इस विलंब को अपना अपमान समझती हैं परन्तु फिर भी वे उस पर कुपित नहीं होतीं, वे मात्र दशरथ को उलाहना देती हैं। जबकि रविषेण के अनुसार रानी विलंब से कंचुकी के वहाँ पहुँचने को अपना अपमान समझती हैं तथा आत्मघात का संकल्प कर लेती हैं। दशरथ भी विलम्ब से आने के कारण कंचुकी पर कुपित होने लगते हैं परन्तु वृद्धावस्था में शरीर की जीर्णता तथा असमर्थता को कंचुकी इतने सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करता है कि दशरथ को जीवन तथा संसार से विरक्ति हो जाती है। अंत में दशरथ सर्वभूतहित नामक मुनि की प्रेरणा से जिन भक्ति में अनुरक्त हो जाते हैं, स्वयंभू ने इन मुनि का नाम सत्यभूति उल्लिखित किया है।

स्वयंभू ने राम के व्यक्तित्व को महिमामंडित करने का प्रयास कई प्रसंगों में किया है। ऐसा ही एक प्रसंग राम-वनवास के समय का है जब राम भरत के सिर पर राजपट्ट बाँधते हैं²⁷ तथा दूसरी बार भी जब भरत राम से अयोध्या वापस चलने का अनुरोध करते हैं तब पुनः राम उनके सिर पर राजपट्ट बाँधते हैं।²⁸ स्वयंभू का यह प्रसंग विमल तथा रवि के रामकाव्यों में नहीं प्राप्त होता है।

शम्बूक-वध के उपरान्त 'पद्मचरित' में खरदूषण सहायतार्थ रावण के पास समाचार भेजता है जबकि 'पउमचरित' के अनुसार खरदूषण समाचार नहीं वरन् पत्र भेजता है।

रावण जब सीता का हरण करके लाता है तो सीता को आकृष्ट करने के लिये वह उन्हें यान में बैठाकर लंका का वैभव दिखाने ले जाता है।²⁹ यह प्रसंग स्वयंभू की मौलिक कल्पना है। पूर्ववर्ती काव्यों में इसका वर्णन नहीं मिलता है।

सीता-हरण के उपरान्त राम जब सीता को कुटिया में खोजते हैं तथा जब सीता उन्हें नहीं मिलती है तो राम उनके वियोग में आहत होकर मूर्च्छित हो जाते हैं। यह प्रसंग विमल तथा रवि के रामकाव्यों में नहीं उपलब्ध होता है।

स्वयंभू ने सीता का चित्रण अत्यन्त मनोवैज्ञानिकता के साथ किया है। स्वयंभू की सीता नंदनवन में अकस्मात् राम प्रदत्त अँगूठी को अपनी गोद में देखकर क्षणभर के लिये शंकित हो जाती हैं। वे अपनी आत्मसंतुष्टि हेतु हनुमान की परीक्षा लेती हैं तथा अनुकूल उत्तर पाकर ही विश्वास करती हैं।³⁰ रविषेण के अनुसार सीता हनुमान को तुरन्त बुला लेती हैं।

इसी प्रकार अंगद को रावण की सभा में भेजा जाना, सीता के सतीत्व को प्रमाणित करने हेतु त्रिजटा का लंका से अयोध्या आना, सीताहरण के पश्चात् लंका पर विपत्ति आने का सूचक,

त्रिजटा का स्वप्न प्रभृति प्रसंग स्वयंभू की मौलिक उद्भावनायें हैं जो विमल तथा रवि के काव्यों में प्राप्त नहीं होती हैं।

कथा का अंत स्वयंभू विमलसूरि तथा रविषेणाचार्य की ही भाँति करते हैं। यह पहले भी कहा जा चुका है कि अपभ्रंश साहित्य का सृजन मूलतः धर्मप्रचार की दृष्टि से ही किया गया है। जैनधर्म की प्रतिष्ठा करना रचनाकारों का मुख्य लक्ष्य रहा है। स्वयंभू ने भी अंत में मुख्य पात्रों को जैनधर्मानुयायी के रूप में दिखाया है। कथा के मुख्य पात्र जिनभक्ति में दीक्षा ले लेते हैं। जैनधर्म की व्यापकता तथा उसकी प्रतिष्ठा के अंकन के साथ ही कथा को अंतिम रूप दिया गया है।

स्वयंभू की पूर्ववर्ती रामकाव्य परम्परा तथा स्वयंभू के रामकाव्य 'पउमचरिउ' के विवेचन के उपरान्त भी अपभ्रंश में रामकाव्यों की रचना की गई। स्वयंभू के उपरान्त उनके पुत्र त्रिभुवन ने रामकाव्य परम्परा को आगे बढ़ाया। यद्यपि त्रिभुवन ने कोई स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी परन्तु स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' की अंतिम सात संधियाँ उन्होंने ही लिखी थीं। स्वयंभू ने तिरासी संधि लिखकर काव्य को पूर्णता प्रदान कर दी थी परन्तु त्रिभुवन को ऐसा प्रतीत हुआ कि अभी यह सम्पूर्ण नहीं है। त्रिभुवन ने 'पउमचरिउ' की अंतिम सात संधियों में जिनधर्म की नीति उपदेशात्मक कथाओं तथा राम के परिनिर्वाण, राम की जैनधर्म में दीक्षा लेना प्रभृति प्रसंगों को सम्मिलित किया है। त्रिभुवन स्वयंभू के सबसे योग्य पुत्र थे। कवित्व प्रतिभा उनमें थी परन्तु स्वयंभू की भाँति स्वाभाविकता तथा सादगी उनके काव्य में परिलक्षित नहीं होती है। त्रिभुवन के काव्य में कलात्मकता अधिक है तथा स्वाभाविकता कम। परन्तु अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा को उन्होंने योगदान दिया तथा 'पउमचरिउ' की अन्तिम सात संधियों की रचना करके 'पउमचरिउ' को जैनमत के अनुसार पूर्ण किया। इस प्रकार उन्होंने अपने पिता के ग्रंथ को पूर्णता प्रदान करके अपभ्रंश साहित्य को अपना योगदान दिया।

त्रिभुवन के उपरान्त रामकाव्य के तीसरे कवि पुष्पदन्त थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना जाता है। पुष्पदन्त प्रारम्भ में शैव थे, कालांतर में ये जैन हो गये थे³¹। पुष्पदन्त ने रामकथा प्रारम्भ करने के पूर्व जो परम्परा उद्धृत की है उसमें उन्होंने स्वयंभू का स्मरण आदर के साथ किया है। पुष्पदन्त ने रामकथा का वर्णन किसी स्वतंत्र पुस्तक के रूप में नहीं किया वरन् 'उत्तरपुराण' की ग्यारह संधियों (69-79) में किया है। पुष्पदन्त ने अपनी रामकथा का स्वरूप विमलसूरि, रविषेण तथा स्वयंभू की रामकथाओं के आधार पर नहीं निर्मित किया है वरन् इन सभी से पृथक् श्वेताम्बर मतावलंबी गुणभद्राचार्य के 'उत्तरपुराण' में वर्णित रामकथा का अनुसरण किया है। गुणभद्राचार्य की रामकाव्य परम्परा का अनुसरण करने वाले पुष्पदन्त की रामकथा का स्वरूप स्वयंभू की रामकथा से कई संदर्भों में भिन्न है। पुष्पदन्त ने अपने ग्रंथों में अपना जो परिचय दिया है उससे यह ज्ञात होता है कि ये स्वभाव से स्पष्टवादी तथा अक्खड़ थे।

यह संघ उदार विचारधारा का था। ग्यारह संधियों में वृहदाकार रामकथा को समेटना असंभव सा लगता है परन्तु पुष्पदन्त ने प्रयास किया लेकिन संधियाँ कम होने के कारण पुष्पदन्त

ने संक्षेप में शीघ्रता करने का प्रयास किया जिससे स्वाभाविकता में कमी आ गयी तथा किसी प्रकार ग्यारह संधियों में कथा पूर्ण करने के उद्देश्य से कथा में आकर्षण का भाव भी कम हो गया है। डॉ. नामवर इसी कारण कहते हैं- सच्चाई यह है कि पुष्पदंत का मन रामकथा में उतना नहीं रमा है, उनकी काव्य प्रतिभा का जौहर अन्यत्र दिखाई पड़ता है।³²

पुष्पदंत की रामकथा का स्वरूप विमलसूरि, रविषेण तथा स्वयंभू की रामकथाओं से कई संदर्भों में भिन्न है। कथा पौराणिक ढंग से वक्ता-श्रोता शैली के रूप में कही गई है। श्रेणिक अपनी शंकाओं को गौतम गणधर के समक्ष रखते हैं तथा गौतम उन समस्याओं का उत्तर देकर श्रेणिक को संतुष्ट करते हैं। 'पुष्पदंत की रामकथा में राम का जन्म अयोध्या में नहीं वरन् काशी में होता है क्योंकि दशरथ पहले काशी के राजा थे। राम की माँ का नाम सुबाला था, कौशल्या नहीं।³³ लक्ष्मण की माँ सुमित्रा नहीं वरन् कैकेयी थी। लक्ष्मण को कैकेयी का पुत्र बताने से ही पुष्पदंत की रामकथा का स्वरूप परिवर्तित हो जाता है, इस तथ्य से राम के वन जाने का प्रसंग विशेष रूप से परिवर्तित हो जाता है।

पुष्पदंत के अनुसार राम की सीता के अतिरिक्त सात अन्य पत्नियाँ थीं। पुष्पदंत ने सीता को रावणात्मजा बताया है। सीता जन्म की यह मान्यता विष्णुपुराण के अनुसार है। गुणभद्र तथा पुष्पदंत के अतिरिक्त अन्य रामकाव्यों, यथा — वसुदेवहिण्डि, कश्मीरी रामायण, तिब्बती तथा खोतानी रामायण, सेरतकांड, सेरीनाम के पातानी पाठ, रामकियेन, रामजातक पालकपालय में भी सीता को रावणात्मजा माना गया है।³⁴

रावण सीता को अमंगलकारिणी समझकर मंजूषा में रखकर मिथिला में फेंक देता है, जहाँ सीता जनक को नहीं वरन् एक किसान को मिलती है, वह किसान जनक को सीता भेंटस्वरूप देता है। सीताहरण का प्रसंग भी यहाँ अन्य रामकथाओं से भिन्न दिखायी देता है। रावण सीताहरण सूर्पनखा के अपमान का बदला लेने हेतु नहीं करता वरन् नारद के उत्तेजित करने पर करता है। सीताहरण पंचवटी से नहीं वरन् वाराणसी के समीप किसी वन से होता है। पुष्पदंत की कथा में हनुमान सीता को नहीं खोज पाये थे। पुष्पदंत की कथा में राम गौरवर्ण के तथा लक्ष्मण श्याम वर्ण के थे। बालि तथा रावणवध लक्ष्मण करते हैं राम नहीं। दशरथ की मृत्यु राम के अयोध्या वापस आने के उपरान्त होती है। लक्ष्मण की मृत्यु किसी रोग से होती है। लक्ष्मण-मृत्यु के उपरान्त राम लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीचंद्र को राज्य देकर स्वयं वैरागी हो जाते हैं। पुष्पदंत ने रामकथा का स्वरूप इस प्रकार परिवर्तित किया कि उसमें भरत जैसा मुख्य पात्र तथा शत्रुघ्न दोनों ही उपेक्षित रहते हैं। भरत तथा शत्रुघ्न की माँ का नामोल्लेख भी पुष्पदंत ने नहीं किया है, भरत-शत्रुघ्न 'कस्यचित् देव्यां' किसी देवी के पुत्र थे।

यद्यपि पुष्पदंत ने मात्र ग्यारह संधियों में ही रामकथा को वर्णित किया, जिससे कथा ऐसी प्रतीत होती है जैसे अत्यंत शीघ्रता के साथ उसे वर्णित किया जा रहा है तथापि पुष्पदंत ने गंगा उत्पत्ति, वानर उत्पत्ति, रावण का दशानन होना प्रभृति प्रसंगों को कुशलतापूर्वक अभिव्यक्ति प्रदान की है। रावण तथा सूर्पनखा जैसे खल पात्रों का चित्रण भी उदारतापूर्वक अधिक उज्वल रूप

में प्रस्तुत किया गया है। वैसे इस संबंध में तो जैन धर्म का ही प्रभाव है क्योंकि जैनधर्म में राम, लक्ष्मण के समान रावण को भी त्रिषष्टि महापुरुष माना गया है, इस कारण उसका चित्रण तो उज्वल रूप में चित्रित करना स्वाभाविक ही है। तथापि पुष्पदंत ने अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा को अपना योगदान दिया तथा इस प्रकार गुणभद्राचार्य की रामकाव्य परम्परा को आगे बढ़ाया।

पुष्पदंत के उपरान्त चंदवरदायी ने अपने महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' के द्वितीय प्रस्ताव में राम कथा का वर्णन किया है। इस प्रस्ताव का नाम 'अथ दसम लिख्यते' है, प्रस्ताव के अंत में लिखा है - "इति श्री कविचंद विरचिते पृथ्वीराजरासो के दसावतार वर्णन नाम द्वितीय प्रस्ताव सम्पूर्ण। इसी दोहे के अनुसार ही इस प्रस्ताव में दसावतारों की चर्चा की गई है।

'पृथ्वीराजरासो' के द्वितीय प्रस्ताव या समय, जिसमें राम कथा की चर्चा की गई है, को प्रथम प्रस्ताव के अंत से जोड़ा गया है। प्रथम प्रस्ताव के अंत में कवि-पत्नी मुक्ति प्रदान करने वाले हरिरस के विविध वर्णनों के संबंध में जिज्ञासा करती हैं, कवि उत्तर में उनसे ध्यानपूर्वक दशावतारों का वर्णन सुनने हेतु कहते हैं। इस प्रकार द्वितीय प्रस्ताव के दसावतारों की भूमिका की पृष्ठभूमि प्रथम प्रस्ताव के अंत में ही निर्मित कर दी गई है। इन दसावतारों में क्रमशः मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि की कथा को 584 छंदों में वर्णित किया गया है। रामावतार की चर्चा 38 छंदों में की गई है। रामकथा 231 से लेकर 263 छंदों में कही गई है। कवि चंद राम तथा कृष्ण की व्यापक तथा महान् कथा को वर्णित करने हेतु अपार समय की आवश्यकता पर बल देते हुये कहते हैं -

राम किसन किन्ती सरस। कहत लगैं बहुबार॥

हुच्छ आव कवि चंद की। सिर चहुआना भार॥ छं. 585, सं. 2

कवि चंद आगे के छंद में वाल्मीकि का भी नाम लेते हैं।³⁵ इस संबंध में डॉ. त्रिवेदी का मत है कि अजमेर तथा जयपुर के संग्रहालयों में संगृहीत बारहवीं सदी की अनेक विष्णु की मूर्तियाँ इस बात का प्रतिपादन करती हैं कि पृथ्वीराज के काल में वैष्णव मत प्रचलित था तथा दशावतार भी जनता में पूज्य थे। 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्यम्' के प्रणेता जयानक ने भी कुमार पृथ्वीराज के कंठ में दशावतार आभरण पहनाने का उल्लेख किया है³⁶ जो रासो युग में विष्णु की महिमा का द्योतक है। रासो के दशावतारों के वर्णन का क्रम 'श्रीमद्भागवत' तथा 'विष्णुपुराण' के अनुसार है।³⁷

रासो के रामावतार की विशेषता यह है कि इसमें पात्रों का चित्रण मुख्य रूप से वीर तथा रौद्र रूप में ही किया गया है, वैसे ओजस्विता के साथ वर्णन करना स्वाभाविक भी है क्योंकि ओज रासो काव्य की सर्वप्रमुख विशेषता है। रासो काव्यों में वर्णन शैली, शब्दयोजना, कथानक प्रभृति समस्त योजनायें ओज गुण को ही केन्द्र में रखकर वर्णित की जाती हैं।

रामावतार के प्रथम चार छंदों में, परशुराम द्वारा क्षत्रियों का संहार तथा ब्राह्मणों को पृथ्वीदान अयोध्यानरेश दशरथ के घर में राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न का जन्म, कैकेयी द्वारा भरत को राजसिंहासन तथा राम को वनवास देने की माँग तथा राम-लक्ष्मण का पंचवटी जाकर कुटी बनाना

उल्लिखित किया गया है। शेष चौतीस छंदों में राम-रावण युद्ध, रावण-वध तथा सीता के उद्धार का वर्णन है। यह वर्णन सूर्यनखा के भयावह रूप के चित्रण से प्रारम्भ होता है। राम कुंभकर्ण को तत्पश्चात् रावण को धराशायी करते हैं। रावण के धराशायी होते ही राक्षसगण रुदन करने लगते हैं तथा देवगण प्रसन्न ह्वे जाते हैं। प्रशस्तिगायक राम की स्तुति गाते हैं। अंत में सागर-वन्दना करके राम, सीता तथा लक्ष्मण सहित वहाँ से प्रस्थान करते हैं। रासो के आगामी छंदों में भी एकाधिक बार राम कथा का प्रसंग आया है। प्रस्ताव पड़, संयोगिता पूर्वजन्म प्रसंग तथा 'प्रस्ताव 63, आपेट चष श्राप नाम' में भी पुनः रामकथा का उल्लेख किया गया है।

डॉ. त्रिवेदी के अनुसार राम कथा संबंधी प्रसंग रासो के मध्यम तथा लघु संस्करण में ही प्राप्त होता है। लघुतम संस्करण में यह प्रसंग अप्राप्य है। तथापि रासो की रामकथा तथा दशावतार वर्णन पर्याप्त प्राचीन है।³⁸

चंदवरदायी के उपरांत रङ्गू ने 'पद्मपुराण-बलभद्र पुराण' की रचना की। इस ग्रंथ का रचनाकाल वि.सं. 1496 से पूर्व माना जाता है। इस ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में प्राप्त होती हैं। इसमें ग्यारह संधियों तथा दो सौ पैंसठ कडवकों में जैन मतानुसार रामकथा का वर्णन किया गया है। 'पद्मपुराण' की पुष्पिकाओं में इसके लिये 'बलभद्रपुराण' नाम भी प्राप्त होता है। प्रत्येक संधि की पुष्पिका में इस नाम का उल्लेख मिलता है।³⁹ संधियों के प्रारंभ में संस्कृत के पद्यों द्वारा हरिसिंह की प्रशंसा और उनके लिए मंगलकामना की गई है। ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्य से किया गया है —

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

परणय विद्धंसणु, मुणिसुव्वय जिणु, पणविवि वहु गुणगण भरिउ।

सिरि रामहो करैउ, सुक्ख जणेरउ, सह लक्खण पयडमि चरिउ॥

इसके पश्चात् जिन स्तवन, तत्पश्चात् ग्रंथ प्रारम्भ किया जाता है। कथा वक्ता-श्रोता शैली में कही गई है। श्रेणिक प्रश्न करते हैं तथा इंद्रभूति उसका उत्तर देते हैं। डॉ. कोछड़ का मत है कि कथा वर्णित करने में शीघ्रता सी प्रतीत होती है।⁴⁰

उपरोक्त रामकाव्यों के अतिरिक्त अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा में अन्य किसी रामकाव्य का उल्लेख नहीं प्राप्त हुआ, संभव है कि अन्य रामकाव्य लिखे गये हों परन्तु प्रमाणों के अभाव में कुछ कहना अनुचित होगा। स्वयंभू के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती रामकाव्यों के संक्षिप्त विवेचन के उपरांत अब अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा में स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' का मूल्यांकन अपेक्षित है। 'पउमचरिउ' में यद्यपि कथा परम्परागत ढंग से वक्ता-श्रोता शैली में निबद्ध है परन्तु स्वयंभू की विलक्षण तथा स्वाभाविक गुणों से युक्त अभिव्यंजना शैली के कारण आद्योपांत कथा में आकर्षण बना रहता है। स्वयंभू सही अर्थों में सच्चे संवेदनशील कवि हैं। मानव मन को सत्यता के साथ उभार कर कुशलतापूर्वक चित्रित करने की उनमें अनूठी क्षमता है। स्वयंभू जैन धर्म द्वारा व्यष्टि तथा समष्टि दोनों में ही एक परिवर्तन, एक नैतिक क्रांति लाना चाहते हैं।

स्वयंभू ने राम का चित्रण अत्यंत स्वाभाविकता के साथ किया है। उन्होंने राम के उत्कर्ष हेतुओं के साथ-साथ उनके अपकर्ष हेतुओं को भी उतनी ही तन्मयता से अभिव्यंजित किया है। उनके राम न ही देवकोटि के हैं तथा न ही कोई महान् आदर्श। वे वास्तविकता के धरातल पर खड़े सामान्य मानव हैं। स्वयंभू के राम मानवीय पौरुष के प्रतिनिधि हैं। राम का मनुष्यरूप में चित्रण मानव समाज के लिए गौरव का विषय है। स्वयंभू ने 8वीं शताब्दी में ही इहलोक के मानव को 'राम रूप' में प्रतिष्ठित करके मानव समाज को गौरवान्वित किया।

स्वयंभू के राम, जहाँ एक ओर सीता को कुटी में न पाकर सामान्य मानव की भाँति करुण क्रंदन करने लगते हैं⁴¹ तथा सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँसुओं से नम कर देते हैं वही राम कर्तव्यपालन की शृंखला में बंधन में बँधे मनुष्य की भाँति निष्करुण भाव से उसी सीता को न केवल कटु शब्दबाणों द्वारा आहत करते हैं⁴² वरन् उस पतिव्रता नारी को पाषाणहृदयी होकर अग्नि को भी समर्पित कर देते हैं। राम के चरित्र के इन दोनों ही पक्षों का स्वयंभू ने अत्यंत मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी चित्रण किया है।

स्वयंभू ने सीता का चित्रण भी अत्यंत कुशलतापूर्वक किया है। जो सीता इतनी सुकुमार है कि दर्पण में नारद का प्रतिबिम्ब देखते ही मूर्च्छित हो जाती हैं वही सीता अग्निपरीक्षा के उपरांत राम द्वारा क्षमायाचना के उपरांत भी वापस आयोध्या नहीं जाती हैं तथा दीक्षा ग्रहण कर लेती हैं। एक सामान्य मानव की भाँति राम सीता के लिए (अग्निपरीक्षा से पूर्व) अत्यंत अशोभनीय तथा निंदनीय शब्द प्रयुक्त करते हैं। सीता प्रत्युत्तर में संयत स्वर में नारीत्व की प्रतिष्ठा करती हैं⁴³ तथा नर-नारी अंतर को स्पष्ट करती हैं।⁴⁴ नारी जाति की सहनशीलता के सम्बन्ध में वे कहती हैं कि इसमें न तो समाज का दोष है तथा न किसी व्यक्तिविशेष का दोष है वरन् स्त्री होना ही अपने आप में सबसे बड़ा दोष है। संयत स्वर में कही गयी यह बात कितनी मार्मिक तथा सारगर्भित है और साथ ही निष्करुण, मिथ्या दंभी पुरुष समाज पर एक तीव्र कुठाराघात भी है। अग्निपरीक्षा के समय राम के इस व्यवहार पर प्रजागण भी सीता के पक्ष में थे तथा राम की भर्त्सना करते हुये कहते हैं - राम निष्ठुर, निराश, मायारत तथा अनर्थकारी और दुष्टबुद्धि हैं। पता नहीं सीतादेवी को इस प्रकार होम करके वह कौन सी गति पायेंगे।⁴⁵ अग्निपरीक्षा के उपरांत सीता द्वारा स्वकेशलोच करना सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है जो स्वयंभू की सच्ची संवेदनशीलता तथा उत्कृष्ट अभिव्यंजना का परिचायक है।

स्वयंभू उदात्त विचारधारा के पोषक थे, स्वयंभू में धार्मिक कट्टरता नहीं थी। राम का मानवीय रूप में चित्रण भी उनकी उदात्तता का ही द्योतक है।

स्वयंभू के राम का यह मानवीय रूप लोकजीवन की निधि है। स्वयंभू ने लोकजीवन का चित्रण अत्यंत सजीवता के साथ किया है। 'पउमचरिउ' में स्वयंभू ने अनावश्यक रूप से न ही कहीं पांडित्य प्रदर्शन किया है तथा न ही उसे अलंकारयुक्त करने का प्रयास किया है। कथा को स्वाभाविक एवं सहज रूप से 'सामण्ण गामिल्ल भांस' में निबद्ध कर दिया है जो स्वयंभू के

मौलिक तथा नैसर्गिक चिंतन को उजागर करते हैं। काव्यात्मक उत्कर्ष की पराकाष्ठा तथा मार्मिक स्थलों की हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना 'पउमचरिउ' की प्रमुख विशिष्टता है। स्वयंभू का जीवन के प्रति आस्थापूर्ण दृष्टिकोण 'पउमचरिउ' के माध्यम से व्यंजित होता है। स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' में उच्च मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। उनकी उत्कृष्ट रामकथा को देखते हुए डॉ. हरीश उन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि कहते हैं⁴⁶ तथा स्वयंभू के 'पउमचरिउ' की मौलिकता पर भी डॉ. हरीश अपने विचार व्यक्त करते हैं।⁴⁷ डॉ. नामवर सिंह भी स्वयंभू को अपभ्रंश का वाल्मीकि कहते हैं।⁴⁸

स्वयंभू की काव्यप्रतिभा को परिलक्षित करते हुये डॉ. भायाणी कहते हैं - स्वयंभू की गणना उन भाग्यशाली लेखकों में होनी चाहिये, जिन्हें उनके जीवनकाल में ही साहित्यिक प्रसिद्धि की मान्यता मिली जिन्हें परवर्ती पीढ़ियों द्वारा प्रवर्धित किया गया। उन्हें उनके जीवनकाल में कविराज के नाम से जाना जाता था तथा उनके पुत्र त्रिभुवन उनकी शानदार प्रशंसा करते हुये कभी नहीं थकते।

स्वयंभू कृत 'पउमचरिउ' अपभ्रंश रामकाव्य परम्परा की अमूल्य निधि है, जिसका प्रभाव परवर्ती रामभक्त रचनाकारों पर भी स्वीकारा जाता है। हिन्दी रामकाव्य परम्परा के सर्वप्रमुख मर्मज्ञ कवि तुलसीदास पर भी यह प्रभाव परिलक्षित होता है। तुलसी ने अपनी रामकथा के प्रेरणास्रोतों के संदर्भ में एक शब्द 'क्वचिदन्यतोपि' का उल्लेख किया है, राहुल सांकृत्यायन जी के अनुसार इसका आशय स्वयंभू रामायण से ही है।⁴⁹ डॉ. रामसिंह तोमर⁵⁰, डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय⁵¹ तथा डॉ. हरिवंश कोछड़⁵² भी परवर्ती रामकाव्यों पर 'पउमचरिउ' का प्रभाव स्वीकारते हैं।

विभिन्न विद्वानों के विचारोल्लेख के उपरांत 'पउमचरिउ' की महत्ता स्वयंसिद्ध हो जाती है। सफल रचना वही होती है जो शताब्दियों की धुंध में धूमिल नहीं होती है वरन् कालांतर में अधिक प्रासंगिक हो जाती है। स्वयंभू यथार्थ जीवन के प्रतिष्ठापक, उदात्त विचारों के पोषक तथा एक क्रांतिकारी युगकवि थे, उन्होंने 'पउमचरिउ' के माध्यम से हिन्दी साहित्य को कई अर्थों में मौलिक संदेश दिये हैं।

1. इक्ष्वाकूणमिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायण मिति श्रुतम्॥ - वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग 3
2. डॉ. कामिल बुल्के, रामकथा, द्वितीय संस्करण 1962, पृ. 724, हिन्दी परिषद् प्रकाशन प्रयाग वि.वि., प्रयाग।
3. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 37-38, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली।
4. श्री नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 280।
5. डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयंभू, पृ. 45, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
6. डॉ. बी.एम. कुलकर्णी, दी स्टोरी ऑफ राम इन जैन लिटरेचर, अप्रकाशित शोधग्रंथ, बम्बई वि.वि., पृ. 26।

7. अलियं पि सव्वमेयं उववत्ति विरुद्धपच्चगुणेहिं ।
न य सददहंति पुरिसा हवंति जे पंडिया लोए ॥
एवं चिंतंतो च्चि संसय परिहार कारणं राया ।
जिण दरिसणुस्सुयमणो गमणुच्छाहो तओ जाओ ॥ - 2.917-18 पउमचरिउ ।
8. डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयंभू, पृ. 46, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।
9. डॉ. कामिल बुल्के, रामकथा, पृ. 366, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग वि.वि., प्रयाग ।
10. डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयंभू पृ. 47, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ ।
11. डॉ. नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ. 279 ।
12. वही, पृ. 280 ।
13. वही ।
14. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 40, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली ।
15. भाउर-सुअ-सिरिकहराय-तणय-कय-पोमचरिय अवसेसं । प्रशस्ति पद 15 ।
16. जिन-रत्नकोश में पउमचरिउ का वर्णन इसी नाम के अन्तर्गत हुआ है ।
17. रामायणस्स सेसे अट्णसीमो इम्मो सग्गो । प.च., 88 संधि के अंतिम घत्ता से उद्धृत ।
18. इय रामएवचरिउ धणंजयासिय-सयम्भुएव-कए । प.च., 18वीं संधि के अंतिम घत्ता से उद्धृत ।
19. बंदउ-आसिय-तिहुयण सयम्भु-परिरइय-रामचरियस्स । प.च., 86 संधि के अंतिम घत्ता से उद्धृत ।
20. पुणु अप्पावउ पायउमि रामायण-कावे । प.च. 1, 1, 19 ।
21. आरम्भिक पुणु राघव-चरिउ । 23, 1, 19 ।
22. राम कहा णई एह कमागया 1, 2, 1 ।
23. डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी, अपभ्रंश प्रवेश, पृ. 24, पारुल प्रकाशन, लखनऊ ।
24. जगे लोएंहिं ढक्करिवन्तएहि । उप्पाइउ मंतिउ मंतएहिं ॥
सो मंदोवरि जणणि-सम, किह लेइ विहीसणु ॥ 1, 10
25. लंकाडरिहि पइट्टु अविचलु रज्जे परिट्टिउ ।
रक्खस-वंसहो णाई पहिलउ कन्दु समुट्टिउ ॥ प.च. 1, 5, 9
26. सीयहे देह रिद्धि पावन्तिहें । एक्कु दिवसु दप्यणु जोयन्तिहें ॥
पडिमा-छलेण महा-भय-गारउ । आरिस-वेसु णिहालिउ गारउ ॥
जणय-तवय सहसत्ति पणट्टी । सीहागमणे कुरंगि व तुट्ठी ॥ 21, 8
27. पेक्खन्तहो जणहो सुरकरि-कर-पवर-पचण्डैहि
यट्टु णिवद्ध सिरे रहु-सुएण स यं भुव-दण्डैहि ॥ 22, 9

28. एउ वयणु भणेप्पिणु सुह-समिद्धु । सई हत्थे भरहहो पट्टु वद्धु ॥ 24, 10
29. तो अवहेरि करेवि विहीसण । चडिउ महग्गए तिसगविहूसण ॥
सीय वि पुष्फ-विमाणे चउविय । पट्टणे हट्ट सोह दरसाविय ॥ 42.6
30. तं णिसुणेवि सीय परिओसिय । 'साहु साहु भो' एम पधोसिय ॥
'सुहउ-सरीर-वीर-वल-मद्दहो । सच्चई भिच्चु होहि वलहद्दहो' ॥
पुणु-पुणु एम पसंस करन्तिएँ । परिहिए अंगुत्थलउ तुरन्तिएँ ॥ 50.6
31. डॉ. नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, 1991 संस्करण, पृ. 195,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद ।
32. वही ।
33. वही, पृ. 197 ।
34. डॉ. कामिल वुल्के, रामकथा, द्वितीय संस्करण 1962, पृ. 366, हिंदी परिषद् प्रकाशन,
प्रयाग वि. वि., प्रयाग ।
35. सिर चहुआना भार । राम लीला छिग गाइय ॥
× × ×
बालमीक रिषराज । किसन दीपायान धारिय ॥ छं 586, सं. 2
36. दशावतारा भरणं कण्ठे रक्षार्थमाहितम् ।
अनन्य रक्षरक्षमात्मानशंसतस्य रक्षितु ॥ श्लो. 43, अ. 2 ॥
37. डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृथ्वीराजरासो, 1964 संस्करण, पृ. 78, पारूल प्रकाशन,
लखनऊ ।
38. डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी, राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ, कलकत्ता
1959 ई., पृ. 677-79 ।
39. इस वलहद्द पुराणे, वुहियण विंदेहि लद्ध सम्माणे ।
40. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 118, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली ।
41. जं मुउ जडाइ हिय जणय-सुअ । धाहाविउ उब्भा करेवि भुअ ॥
हउं कहिं हरि कहिं घरिणि कहिं घरु कहिं परियणु छिण्णउ ।
भूय-वलित्व कुडुम्बु जगे हय-दइवे कह विक्खिण्णयु ॥ 39.2
42. जइ वि कुलगयाउ णिखण्णउ महिलउ होति सुट्टु णिल्लज्जउ । 83.8
43. पुरिस विहीन होन्ति गुलवंत वि । तियहेँ ण पत्तिज्जन्ति मरुव वि । 83.8
44. णर-णरिहि एवड्डउ अंतरु । मरणेँ वि वेल्लि ण मेल्लइ तरुवरु ॥ 83.9
45. णिट्ठुरु णिरासु मायारउ दुक्किय-गारउ कूर-मइ ।
णउ जाणहुँ सीय वहेविणु रामु लहेसइ कपण गइ ॥ 83.9

46. डॉ. हरीश, आदिकालीन हिन्दी साहित्य शोध, पृ. 23, साहित्य भवन लि., इलाहाबाद।
47. कवि ने राम, रावण, सीता, विभीषण, हनुमान, लक्ष्मण आदि सभी पात्रों को जैनशिल्प में ढाला है तथा मौलिकता प्रस्तुत की है.... राम की सीता के प्रति कठोरता, सीता का पातिव्रत्य, अग्निपरीक्षा, रावण-सीता सम्बन्ध तथा सीता की जिन-धर्म में दीक्षा आदि की बातें मैलिक हैं। - वही, पृ. 24।
48. डॉ. नामवर सिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, 1991 संस्करण, पृ. 194, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
49. श्री राहुल सांकृत्यायन, सरस्वती पत्रिका, सितम्बर 1955 अंक, 156, इलाहाबाद।
50. तुलसी की कृति में प्रायः छंदों की रूपरेखा अपभ्रंश चरितकाव्यों के समान ही है। उसका मूलस्रोत अपभ्रंश के इन चरितकाव्यों को माना जा सकता है। पद्धड़िया-घत्ता शैली का ही परिवर्तित रूप दोहा-चौपाई शैली को कहा जा सकता है।
51. डॉ. संकटाप्रसाद उपाध्याय, महाकवि स्वयंभू, पृ. 219, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़।
52. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. 46, भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली।



महासरं पत्तविसेसभूसियं

महासरं पत्तविसेसभूसियं सुहालयं सक्कड़विंदसेवियं ।
सुलक्खणालंकरियं सुणाययं णिउ व्व रामु व्व वणं विराइयं ॥ वंसत्थ ॥

रायहंसगइगमण रंभाजंघोरुयअइकोमल ।

पवरलयाहररमण कयपसूयणियसण णिरु णिम्मल ॥

अलिरोमावलिणिद्ध वित्त तल्लणाहीसुमणोहर ।

पीणपवरउत्तुंगमाहु लिंगउब्भासियथणहर ॥

वेल्लीभुयसुकुमाल रत्तासोयपत्तकरसुंदर ।

बिंबीहलअहरदल दाडिमबीयसुदसणाणंदिर ॥

चंपयहुल्लसुणास वियसियइंदीवरदललोयण ।

पोमाणण सिहिपिच्छकेसबंधजणमयणुक्कोयण ॥

चंदणघुसिणरवण्णवण्ण तिलयंजणसुपसाहण ।

कप्पूरायरसोह बहुभुयंगसेवियहरिवाहण ॥

कंचणवंत सुमंड कोइलललियालावसुहासिणि ।

तरुराइय वणे तेत्थु दिट्ठिय राएँ णाइँ विलासिणि ॥

इयगुणेहिँ पर उण्ण कासु ण हियवउ हरइ णिरुत्तिय ।

कामलेह णामेणं पद्धडिया फुडु एस पउत्तिय ॥

घत्ता - रायागमणेण तणुरोमंचिय भासइ ।

णवकुसुमहलेहिँ अगंधंजलि व पयासइ ॥ ८ ॥

पउमचरिउ की लोक-दृष्टि

(विद्याधर काण्ड के सन्दर्भ में)

— डॉ. शैलेन्द्रकुमार त्रिपाठी



साधारण जन की मनोभावना, रुचि, स्वभाव एवं आकांक्षा को जितनी सहजता से कवि ग्रहण करता है अगर उसी सहजता से उसे वह कविता में व्यक्त कर देता है तो निश्चित ही, वह शास्त्र का निर्माण करने में सक्षम है। हमारी परम्परा के प्राचीन सर्जकों का आभिजात्य सही मायने में इसी रूप में देखा जा सकता है। साहित्य के 'सहित' का भाव यदि मनुष्य के रूप में जी रहे निर्धनतम की आशा का विध्वंस करने में है तो एक साथ अनेक प्रश्नवाचक खड़े हो सकते हैं?

हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखने पर यह पता चलता है कि हिन्दी जाति की सोचने-विचारने और सृजन-क्षमता की समृद्धि का काल 'आदि काल' अपभ्रंश के दायरे में बंधा है। रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. राम विलास शर्मा से लेकर डॉ. रामकृपाल पाण्डेय तक इसे स्वीकार करने में संकोच नहीं करते, अब एक दूसरा अहम मुद्दा है। अपभ्रंश किस तरह की भाषा थी? भाषा थी, इसमें किसी भी विद्वान को कोई आपत्ति नहीं है- विवाद में पड़ना अपना अभीष्ट नहीं है, अतः- हजारीप्रसादजी के परस्पर विरोधी विचारों के आलोक में रामविलासजी की मान्यताएँ और उन मान्यताओं से प्रेरित होकर डॉ. रामकृपाल पाण्डेय के प्रेरक और वैचारिक सुझाव कहाँ तक और कितने ग्राह्य हो सकते हैं यह अलग लेख का विषय हो सकता है। यहाँ हम अपभ्रंश की एक विख्यात कृति 'पउम चरिउ' जो महाकवि स्वयंभू की प्रबन्ध कृति है और पाँच काण्डों में विभक्त है- विद्याधर काण्ड - 1-20 संधियाँ,

अयोध्या काण्ड - 22 (21-42) सन्धियां सुन्दर काण्ड - 14 (43-56) सन्धियां, युद्ध काण्ड - 21 (57-77) सन्धियां, उत्तर काण्ड - 13 (78-90) सन्धियां। डॉ. रामसिंह तोमर का मानना है कि कृति की अन्तिम आठ सन्धियाँ महाकवि के पुत्र ने लिखकर जोड़ दी हैं।

पउम चरिउ का एकमात्र विद्याधर-काण्ड यहाँ पर मैं इस आशय से पुनरावलोकन के लिए रखना चाहूँगा कि हजारीप्रसादजी की यह धारणा कि - “इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं- एक तो जैन भण्डारों में सुरक्षित और अधिकांश में जैन प्रभावोत्पन्न परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश की रचनाएँ हैं, दूसरी लोक परम्परा में बहती हुयी आनेवाली, और मूल रूप से अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोकभाषा की रचनाएँ”

शत प्रतिशत सही है क्या-? अपभ्रंश साहित्यिक परिनिष्ठित जैन प्रभावपत्र और दूसरी तरफ लोकभाषा की रचनाएँ !!! जिस ग्रन्थ के एक काण्ड को मैंने पुनरावलोकन के लिए रखा है यह अपभ्रंश परम्परा में एक प्रसिद्ध रामायण ग्रन्थ है, पूर्णरूपेण जैन प्रभावोत्पन्न। रामचरित मानस-अध्यात्म रामायण और वाल्मिकी रामायण समेत हिन्दी के कुछ और रामचरित विषयक ग्रन्थों को देखने के बाद मेरी धारणा है कि इसका कथा-विन्यास हमारी अपनी मानसिकता के बिल्कुल प्रतिकूल है, पर क्या मात्र इसीलिये मैं इस ग्रन्थ को किनारे रख दूँ। इसमें मैंने एक पाठक की दृष्टि से लोक की तरफ अपभ्रंश के साहित्यिक और शास्त्रीय (कवि की मान्यताओं) मान्यताओं को देखने का प्रयास भर किया है।

विद्याधर काण्ड की शुरुआत में ही महाकवि ने ‘जिन जन्म उत्पत्ति’का जो पहला पर्व लिखा है उसमें लोक प्रकृति और लोक प्रवाद का एक हल्का रूप देखने को मिल जाता है। सामान्य भाषा में यत्नपूर्वक अपनी बात कहनेवाला कवि अपने ग्रामीण भाषा से हीन वचनों के सुभाषित होने की इच्छा रखता है। खल की वन्दना करता है फिर यह भी कहता है कि ऐसे दुष्ट की वन्दना करने से लाभ क्या जिसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। क्या राहु काँपते हुए पूर्णिमा के चन्द्रमा को छोड़ देता है-

पिसुणें किं अब्भात्थिँण जसु को वि ण रुच्चइ।

किं छण-चन्दु महागहेणं कम्पन्तु वि मुच्चइ॥ 1.3.14॥

तीसरी सन्धि की शुरुआत देखने पर पता चलता है कवि की प्रकृतिपरक लोक रगात्मक दृष्टि जहाँ पर वह एक ही साँस में एक क्रम से साठ-सत्तर से अधिक पेड़-पौधों के नाम से सज्जित उपवन में परम भट्टारक जिन को प्रवेश कराता है। यह दूसरी बात है कि कथा के सूत्र एकदम से अलग हैं पर लोक और प्रकृति के निरीक्षण में कवि कहीं पर खलित नहीं हुआ है। कवि कहीं पर बात कर रहा हो उसकी दृष्टि लोक पर रहती है। राजा अगर नगर में प्रवेश नहीं कर पा रहा है तो स्वयंभू की दृष्टि में - वह अनेक लोक-विधानों और कल्पनाओं को जन्म देता है। चौथी सन्धि का आरम्भ ही इसी से होता है कि साठ हजार वर्ष की पवित्र और जयी

विजय यात्रा के बाद भरत ने आयोध्या में प्रवेश किया पर उनका तीक्ष्ण धारवाला नया युद्ध प्रिय चक्र किसी भी तरह नगर के भीतर प्रवेश नहीं कर पा रहा था-किस तरह से -

जिह वम्भयारि-मुहें काम-सत्थु।
जिह किविण-णिहे लणें पणइ-विन्दु ॥4.1 ॥

अर्थात् जिस तरह से ब्रह्मचारी के मुख में काम शास्त्र का प्रवचन/जिस तरह से कंजूस के घर याचक जन/उसी तरह से भरत का युद्ध प्रिय चक्र सीमा पर ही रुक गया। यही भरत जब अपने प्रतिद्वन्दी राजा से पराजित हो जाते हैं तब उनकी स्थिति क्या होती है-

अवरा मुह-हेट्टा मुह-मुहाइँ। णं वर-वहु-वयण-सरोरुहाइँ
उवरिल्लियएँ विसालएँ भिउडि-करालएँ हेट्टिम दिदिठ परज्जिय।
णं णव-जो व्वण इत्ती चञ्चल-चित्ती कुल वहु इज्जएँ तज्जिय ॥ 4.9 ॥

पराजित भरत का मुख ऊँचे खानदान की कुल वधू की तरह अचानक नीचे झुक गया। बाहु-बलि की विशाल भौहों वाली दृष्टि से भरत की दृष्टि ऐसी नीची हो गई जैसे सास से ताड़ित, चंचल चित्त नवयौवना कुल-वधू नम्र हो जाती है। कवि अपने पात्रों अपने चरित्रों की आवाज में बोलता है, लोक को देखता है, उसकी नियति को देखता है और पाता है कि संसार में उत्पन्न हर एक व्यक्ति की नियति नियत है। नहीं तो दिन के पूर्वभाग में ज्वलन्त और जीवन्त सूर्य दिन के आखिर में अंगारों का समूह मात्र रह जाता है। जिस शासक या जिस स्वामी को लाखों व्यक्ति और श्रेष्ठ व्यक्ति प्रणाम करते हैं वही शासक या स्वामी असहाय और असमय मर जाता है। - बीता हुआ समय और दिन वापस नहीं होता/जो नदी के प्रवाह में डूब गया उसका चिन्तन कौन करे, शायद अज्ञानी ही करते होंगे। अर्थ का अनर्थ भी कवि की दृष्टि में रहा है, वह सोचता रहा है कि लक्ष्मी न जाने कितनों को लड़वा देती है, न जाने कितनों को पाहुना बना लेती है! जो कोई भी युवक होता है यह उसी की कुल पुत्री बन बैठती है-

आयएँ लच्छिएँ बहु जुज्जाविय। पाहुणया इव वहु वोलाविय ॥

जो-जो को वि जुवाणु तासु-तासु कुल उत्ती-

इतना बड़ा कवि लोक की प्रवंचनाओं को ज्यों का त्यों रख देता है यानी जो भी लोक प्रवाद हैं, वे हैं इतनी सारी कथात्मक भिन्नता के बाद भी लोक की मानसिकता में कहीं परिवर्तन नहीं है। जब वह यह कहता है कि-

कण्णा दाणु कहिँ (?) तणाउ चइणा दिण्णु तो तुडि हि चडावइ।
होइ सहावें मइलणिय छेयका-लें दीवय-सिह णावइ ॥

अर्थात् कन्यादान किसके लिए-? (इसमें छिपा हुआ है निश्चित ही दूसरे के लिए, क्योंकि बेटी बराबर बाप के घर में रहने के लिए नहीं होती) यदि कन्याएँ उचित समय पर उचित पात्र को न दी गयी अर्थात् उनकी शादी न की गयी तो वे दोष लगा देती है क्योंकि बुझने के समय की दीपशिखा की तरह वे स्वभावतः मलिन होती हैं।

मेरे कहने का आशय सिर्फ इतना है कि कवि कह रहा है राम कथा, पर उसमें भी उसे पर्याप्त समय मिलता है गृहस्थ-धर्म, सामाजिक आचार-विचार, लोक की रुढ़ियाँ साथ ही लोक की अपरिमेय कल्पनाएँ भी; यानी स्वप्न देखकर उसका विचार और वह भी विचित्र स्वप्न; कभी-कभी कवि की विचार वल्लरी इस तरह प्रसारित होती चलती है कि पाठक को आश्चर्य होता है, साथ ही उसका सुखद प्रभाव भी पड़ता है। उदारहण के लिए युद्ध के दृश्य में स्वयंभूदेव का यह कहना-

भञ्जन्ति खम्भ विहङ्गन्ति मञ्च
दुक्कवि-कव्वा लाव व कु-सञ्च
हय गय सुण्णा सण संच रत्ति
णं पसुक्ति-लोयण परिभमन्ति

स्तम्भ और मंच इस तरह से टूट रहे थे जिस तरह से कुकवि का अनगढ़ काव्य-शब्द तथा हाथी और घोड़ों के आसन शून्य हो गये थे, वे इस तरह दौड़ रहे थे जैसे वेश्या के नेत्र घूमते हैं। वेश्या के नेत्रों का घूमना और उसकी कल्पना कवि के साथ पाठक को भी (उसके यानी) कवि के सूक्ष्म निरीक्षण को आश्चर्य के साथ ही देखती है। रावण द्वारा एक प्रचण्ड शक्तिशाली हाथी को वश में करने पर कवि की उक्ति पुनः कुछ इसी तरह की है-

हत्थि-विचारणाउ एयारह।
अण्णउ किरियउ वीस दु-वारह॥
दरिसँ वि किउ। णिफन्दु महा-गउ।
धुत्तँ वेस-मर ट्ठु व भग्गउ॥

हाथी को वश में करने की ग्यारह तथा अन्य चालीस क्रियाओं का प्रदर्शन कर, उसने (रावण ने) उस शक्तिशाली हाथी को पराजित किया ठीक उसी तरह जैसे कोई धूर्त वेश्या के घमण्ड को चूर-चूर कर दे। पुनः एक जगह महाकवि कुलवधू की गरिमा को बताते हैं। इससे यह पता चलता है कि लोकाचारों के प्रति जैन ग्रन्थों में गहरी आस्था है। आश्चर्य होता है कि बहुत सारे सम्बन्धों के प्रति कवि की मान्यता प्रचलित लोक मान्यताओं से हटकर नहीं है। लोक की घिनौनी हरकतें भी इन शस्त्रीय (जैन) ग्रन्थों में यथावसर आ गयी हैं। उदाहरण के लिए परपुरुष रावण से साहचर्य के लिए लालायित उपरम्भा की कथा कवि ने दी है और रावण के मुख से असती नारी की निन्दा में कुछ शब्द कहलाये हैं - रावण असती स्त्री को यम नगरी की तरह भयंकर संसार का नाश करनेवाली बिजली, विष भरे साँप का फन और आग की प्रचण्ड ज्वाला मानता है, इतना ही नहीं; वह ऐसी नारी को मनुष्य को बहा ले जानेवाली नदी तथा घर के बाघ के रूप में देखता है।

दुम्पहिल जि भीसण जम-णयरि
दुम्पहिल जि असणि जगन्त-यरि
दुम्पहिल जि स-विस भुयङ्ग-फड

दुम्महिल जि वड़ वस-महिस-झड
दुम्महिल जि गरुय वाहि णरहॉ
दुम्महिल जि वग्घि मज्झं घरहॉ- ॥ (15.13)

विद्याधर काण्ड में रावण एक प्रमुख चरित्र बन गया है जिस पर कवि की अच्छी दृष्टि है, किन्तु जहाँ तक उसके कर्म साथ हैं। कैलाश पर्वत उखाड़ने पर कवि की उक्ति है-

मानो खोटे पुत्र ने, सुप्रसिद्ध प्रशंसा प्राप्त और अपना सिद्ध कुटुम्ब ही उखाड़ डाला है-

सु-पसिद्धउ सिद्धउ लद्ध-संसु
णावड़ दुपुत्ते णियय-वंसु

इतना ही नहीं महाबलि बालि की शक्ति के आगे रावण की एक नहीं चलती है और वह भी कवि की हास्यपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली पाठक को चमत्कृत कर देती है। कवि कहता है कि रावण का विमान बालि महाऋषि के ऊपर से वैसे ही नहीं जा पा रहा था जैसे नव विवाहिता पत्नी अपने सयाने कामुक पति के पास नहीं जाती-

विहडइ थरहरइ ण दुक्कइ उप्परि बालि-भडाराहॉ
छुडु-छुडु परिणियउ कलत्तु व रइ-दइयहॉ वडुाराहॉ। (13.1.10)

फिर भी पउम चरिउ का रावण-निर्मित चरित है और फिर, किसी भी कवि के पास अपनी निज की दृष्टि होती है जिसके अनुसार वह सामयिक परिवेश में पात्रों की सांस्कृतिक लोक-पीठिका तैयार करता है तथा शब्द के जरिये समय को व्यक्त करता है, लोक को व्यक्त करता है। उदाहरण के तौर पर पउम चरिउ के विद्याधर काण्ड में ही कई लोक-सूक्तियों को देखा जा सकता है जो समय-सिद्ध हैं-

(1) वुच्चइ सह सक्खें किं के सरि सिसु-करि वहइ।
पच्चेल्लिउ हुअवहु सुक्कउ पायउ सुहु उहइ॥

क्या सिंह छोटे से गज शिशु पर आक्रमण करता है? क्या समर्थ आग सूखे पेड़ को जलाती है?

(2) दुर्जन के मुख से कोई बचता नहीं; अर्थात् वह किसी को भी कुछ कह सकता है-

- जिह दुज्जण-वयणहुँ को वि ण पासु समिल्लियइ ॥

(3) कुपुत्र की उन्नति से कुल मैला हो जाता है। (17.1.10)

(4) कामदेव शक्तिशाली है खोटे मुनि वश में नहीं कर सकते। (17.4.10)

(5) जिसके विरह में कामदेव मर रहा हो उसके रूप का वर्णन कौन करेगा। (18.6.8)

(6) केवल पलायन से लज्जित होना चाहिए क्योंकि उससे मुहँ नाम और गोत्र को कलङ्क लगता है। (20.11.5)

केवल एक काण्ड की बीसों सन्धियों में पचीस से ऊपर इस तरह की लोक-सूक्तियाँ हैं निश्चित ही इससे कवि की लोक निरीक्षण शक्ति का पता चलता है।

विषादमग्न पवनञ्जय का कातर-विरह विलाप परवर्ती हिन्दी काव्य की पूर्ववर्ती दृष्टि के रूप में देखा जा सकता है। वह पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों से अपनी प्रेयसी के बारे में पूछता है-

पवणञ्जओ कि पडिवक्ख-सउ
 काणण पइसरइ विसाय-रउ
 पुच्छइ 'अहों सरवण दिट्ठ धण
 रत्तुप्पल - दल - केमल - चलण
 अहों राजहंस हंसाहिवइ
 कहें कहि मि दिट्ठ जइ हंस-गइ
 अहों दीहर-णहर मया हिवइ
 कहें कहि मि णियम्बिणि दिट्ठ जइ
 अहों कुम्भि कुम्भ-सारिच्छ-थण
 केत्तहें वि दिट्ठ सइ सुद्ध-मण
 अहों-अहों असोय पल्लविय-पाणि
 कहिँ गय पर हुँ पर हूय-वाणि
 अहों रुन्द चन्द चन्दाणणिय
 मिग कहि मि दिट्ठ मिग-लोयणिय
 अहों सिहि कलाव-सण्णिह-चिहुर
 ण णिहालिय कहि मि विरह विहुर॥ (19.13.2)

अरे सरोवर! क्या तुमने रक्त-कमल की तरह चरणोंवाली मेरी धन्या देखी। हे हंसराज! तुमने यदि मेरी हंस गामिनी को देखा हो तो बताओ! हे विशाल नेत्रोंवाले मृगराज, तुमने उस नितम्बिनी को देखा हो तो बताओ-? हे गजराज, यदि तुमने गजकुम्भ स्तनी शुद्ध मनवाली मेरी प्रिया को देखा हो तो बताओ-बताओ वह अशोक किसलय जैसे हाथोंवाली कहाँ है-? अरे वक्र चन्द्र! तुम बताओ वह चन्द्रमुखी कहाँ है-? अरे मृग, क्या तुमने मेरी मृगनयनी को देखा है? अरे मयूर, तुम्हारे कलाप की तरह बालोंवाली मेरी प्रिया अर्थात् उस विरह-विधुरा को तुमने देखा क्या ?

ध्यातव्य है यह विरह-वर्णन अपभ्रंश का एक लोक महाकवि कर रहा है जो मानता है कि कविता से लोक में स्थिर कीर्ति पायी जा सकती है. आत्मश्लाघा नहीं करता और आत्म मुग्ध भी यह कवि कम है जो लोक के बड़प्पन का सूचक है। इतना ही नहीं वे यह भी स्वीकार करते हैं कि रामायण के माध्यम से मैं अपने आपको बता रहा हूँ-या प्रकट कर रहा हूँ-

पुणु अप्पाणउ पाय उमि रामायण कावें (1.1.19)

मेरी समझ से लोक कवि की यह धारणा स्वान्तः सुखाय की आदि धारणा है और इसमें उसे पर्याप्त सफलता भी मिली है।

जीवन-मूल्यों का सन्दर्भ लोकाचार से अन्यान्य भाव से जुड़ा होता है और कृतिकार तथा कृति अगर लोक से परिचित न हों (गहरे रूप में) तो सृजन-कर्म पूर्ण होगा- इसमें संदेह की मात्रा ही अधिक रहेगी। पउम चरिउ का कवि लोक-कवि है और दृष्टि-समर्थ भी।

दृष्टव्य है —

1. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य, रामसिंह तोमर।
2. पउम चरिउ-विद्याधर काण्ड, देवेन्द्रकुमार जैन।
3. अपभ्रंश का जैन साहित्य और जीवन मूल्य, साध्वी साधना।
4. विशेष सन्दर्भों में — हिन्दी-जाति का साहित्य, डॉ. रामविलास शर्मा।

तथा

‘हिन्दी साहित्य का इतिहास-पुनर्लेखन की समस्याएँ’ में डॉ. रामकृपाल पाण्डेय का लेख - हिन्दी साहित्य का आरम्भ कब से मानना चाहिए ?

तथा

हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी।

हिन्दी भवन, शान्ति निकेतन
विश्वभारती-पश्चिम बंग
पिन कोड - 731235

महासरं पत्तविसेसभूसियं (वन की वृक्षावली का विलासिनी सदृश सौन्दर्य)

जिस प्रकार महान् स्वरयुक्त, विशेषपात्रों से भूषित, चूने से पुते हुए महल (सुधालय) - निवासी, उत्तम कविगणों से सेवित, शुभलक्षणों से अलंकृत और सुन्यायशील राजा शोभायमान होता है; तथा जिस प्रकार महावाणधारी, विशेष वाणपत्रों से भूषित, शुभ लक्षणों का निधान, सुकपिवृन्दों से सेवित, सद्भ्राता लक्ष्मण से अलंकृत सुनायक राम शोभायमान हुए; उसीप्रकार महासरोवर से युक्त, नवीन प्रचुर पत्रों से भूषित, सुख का निधान, सुन्दर वानरों से युक्त, अच्छे लक्ष्मण वृक्षों से अलंकृत, वन्य पशुओं से भरा हुआ वह उपवन शोभायमान हो रहा था। उस वन में राजा ने वृक्षावलि देखी, जहाँ राजहंसों का गमनागमन हो रहा था। जहाँ कदली के अतिकोमल वृक्ष दिखाई दे रहे थे। जो बड़े-बड़े लतागुहों से रमणीक थी। जहाँ फूल फूल रहे थे। जो अति निर्मल थी। जहाँ भौरों की गुंजार हो रही थी। जो बेंतों और बर्ब की झाड़ी से अतिमनोहर थी। जहाँ बड़े-बड़े ऊँचे माहुलिंग (बिजौरे के वृक्ष) उद्भासित हो रहे थे। जहाँ सुकुमार लताएँ व सुन्दर अशोक के लाल पत्ते, बिंबाफल, दाड़िम के बीज, चंपक के फूल, विकसित कुमुदिनी, कमल, मयूरपिच्छ, चंदन, केशर, तिलक व अंजन, कर्पूर, बहुभुजंग, सिंह, कांचनवृक्ष, सुन्दर मंड दिखाई देते थे; और जो कोकिलाओं के ललित आलाप से सुशोभित हो रही थी। इस प्रकार वह वृक्षावली एक विलासिनी के समान दिखाई दी, जो राजहंस के समान गमन करती है, जिसकी जंघाएँ और पिंडलियाँ कदली वृक्ष के समान अतिकोमल हैं। जो बड़े लतागृह में रमण करती है; तथा पुष्पों के आभूषण धारण किये हैं। जो अत्यन्त गोरी है। जिसकी रोमावली भ्रमर के समान काली और स्निग्ध है। जिसकी नाभि गोलाकार और गहरी है। जो अति मनोहर है। जिसके स्तन, माहुलिंग के समान पीन, प्रवर और उत्तुङ्ग हैं। जिसकी भुजाएँ लता के समान अति सुकुमार हैं। जिसकी हथेली रक्ताशोक के पत्तों के समान सुन्दर है। जिसके अधर बिंबाफल सदृश व दांत अनार के दानों के समान सुन्दर और आनन्ददायी हैं। जिसकी सुन्दर नासिका चम्पकपुष्प के समान, आँखें फूली हुई कुमुदनी के पत्र समान, मुख कमल-सदृश व केशबन्ध मयूरपिच्छ के समान लोगों के मन को उद्दीपित करनेवाला है। जो चन्दन और केशर से सुन्दरवर्ण दिखाई देती है। जो तिलक और अंजन से आभूषित है। जो कर्पूररस से ओत-प्रोत है। जिसकी बहुत से प्रेमीजन सेवा करते हैं। जो हरिवाहन है, कंचनवर्ण है, सुमंडित है और कोकिला के ललित आलाप-सदृश सुभाषिणी है। ऐसे गुणों से परिपूर्ण वह वनपंक्ति वा विलासिनी किसके हृदय को यथार्थतः हरण नहीं करती? (यह स्पष्टतः कामलेखा नामक पद्मडिया छंद का प्रयोग है)। राजा के आगमन से वह वनपंक्ति अपने तृणों द्वारा तन से रोमांचित प्रतीत होती थी, और अपने नये पुष्पों और फलों से मानो पूजांजलि प्रस्तुत कर रही थी।

(सुदंसणचरिउ, 7-8)।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

अपभ्रंश के महाकवि त्रिभुवन : एक परिचय

— डॉ. संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र'



अपभ्रंश के महाकवि त्रिभुवन 8वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के कवि माने जाते हैं। इनके पिता कविवर स्वयंभू 8वीं शताब्दी के पूर्व के एक प्रतिष्ठित कवि थे। इन्होंने (स्वयंभू ने) अपभ्रंश में 'राम-काव्य' की रचना की। इसलिए कविवर 'स्वयंभू' को अपभ्रंश का बाल्मीकि भी कहा जाता है। अतः कविवर त्रिभुवन को काव्य-कौशल और पाण्डित्य, उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। इनके पिता स्वयंभू तथा बाबा मारुतिदेव दोनों ही मँजे हुए कवि थे। ये उत्तर के रहनेवाले थे किन्तु कालान्तर में दक्षिण के राष्ट्रकूट राज्य को चले गए।

'रामकाव्य' की जो परम्परा महाकवि स्वयंभू ने रची थी उसे उनके सबसे छोटे पुत्र महाकवि त्रिभुवन ने आगे बढ़ायी। उन्होंने फुटकर रचना कम लिखी। अतः स्वतंत्र रूप से कोई पुस्तक न लिखकर पिता के काव्य अर्थात् पउमचरित (विशेषकर) ग्रंथ में ही वृद्धिंगता प्रदान की। कवि स्वयंभू ने 'पउमचरित' अर्थात् पद्मचरित (रामचरित) को 83 संधियों तक लिखकर छोड़ दिया था जिसे आपने सात संधियाँ और जोड़कर 90 संधियों तक पहुँचा दिया। उनका मत था कि पिताश्री ने जो 'रामचरित' की रचना की है वह पूर्ण नहीं है। उसमें उन्हें कुछ कमी प्रतीत हुई। कमी यह लगी कि 'पउमचरित' की परि समाप्ति जैनधर्म (श्रमणधर्म) के अनुसार नहीं हुई है। उनका यह अभिप्राय था कि मर्यादा पुरुषोत्तम राम जिनधर्म में दीक्षित नहीं हुए हैं अतः उनका परिनिर्वाण शेष है। उनके कर्म-क्षेत्र में क्षय की स्थिति नहीं हुई है। पूर्व भवों की कथा (जन्म-जन्मान्तरों की कथा) का कृति में अभाव है। इतनी वृहद कमी को सक्षम व सुयोग्य पुत्र ने अपनी

लेखनी द्वारा पूर्ण कर काव्य को समृद्ध किया। सम्पूर्ण कृति में कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ जोड़ा है जिससे सम्पूर्ण कृति में एक अनुपम निखार आया है। इस तरह वर्तमान 'पउमचरिउ' स्वयंभू और त्रिभुवन दोनों महान कवियों की सम्मिलित कृति है, देन है। सावधानीपूर्वक देखा जाए तो दोनों की रचनाओं में अन्तर परखने लगेगा। भाव, भाषा और शैली तीनों में कविवर स्वयंभू की कोई 'सानि' नहीं है, वहीं क्लिष्ट एवं पांडित्यपूर्ण भाषा-शैली का उच्छल आवेग पुत्र की रचना-संसार में परिलक्षित हो जाता है। यथा-

तिहु वणो जइ विण होंतु, वांदणोसिरि-सयंमु-एवस्स।
कव्वं कुल-कवित्त तो पच्छा को समुद्धरह॥

1. हरिवंश कोछड़-अपभ्रंश साहित्य, 1956।
2. मधुसूदन चिमनलाल मोदी-अपभ्रंश पाठावली (गुजराती) अहमदाबाद, 1992 वि.।
3. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग - नामवरसिंह, लोक भारती प्रकाशन, 1965, इलाहाबाद।
4. अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध-प्रवृत्तियाँ — डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री, 1972, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
5. अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न विधाओं का संक्षिप्त अध्ययन - डॉ. संजीव प्रचंडिया 'सोमेन्द्र', अलीगढ़।
6. अपभ्रंश साहित्य और उसकी प्रवृत्तियाँ -वही।

मंगलकलश, 394, सर्वोदय नगरे
आगरा रोड, अलीगढ़-202001

पुष्पदन्त के काव्य में प्रयुक्त 'कवि समय'

— विद्यावारिधि डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया



हिन्दी का पूर्व और अपूर्व रूप है अपभ्रंश। अपभ्रंश का अपना स्वतंत्र और मौलिक साहित्य है। महाकवि पुष्पदन्त अपभ्रंश के प्रतिभा सम्पन्न महाकवि थे।

पुष्पदन्त जन्मतः ब्राह्मण-पुत्र थे।¹ इनके पिता और माता के नाम क्रमशः पं. केशवभट्ट तथा श्रीमती मुग्धा देवी था। गोत्र था कश्यप।² आप कृश काय श्यामवर्णी थे।³ आप स्वभाव से सहृदय थे।⁴

कवि की आरम्भिक काव्याभिव्यक्ति शृंगाररस प्रधान थी। इसी से आपका कवि नाम सार्थक सिद्ध हुआ।⁵ कथा मकरंद आपका दूसरा काव्य था जिसमें भैरवानन्द की यशोगाथा शब्दायित है।⁶ कविर्मनीषी पुष्पदन्त को सफलकाव्य प्रणेता सिद्ध करनेवाली आपके द्वारा प्रणीत महापुराण⁷ णायकुमार चरित⁸ तथा जसहर चरित⁹ नामक उल्लेखनीय काव्य कृतियाँ हैं।

कवि के व्यक्तित्व और कृतित्व तथा उनके काव्यों का हिन्दी अनुवाद तथा अध्ययन-अनुशीलन अनेक विद्वानों द्वारा अवश्य किया गया है। अनेक विश्वविद्यालयों में महाकवि पुष्पदन्त पर विविध दृष्टिकोण से गवेषणात्मक अध्ययन भी क्रिये गये हैं परन्तु 'कविसमय' जैसे काव्य-शास्त्रीय अंग पर स्वतंत्र रूप से अभी तक कहीं कुछ नहीं लिखा गया है। इसी अभाव को देखते हुए यह विवेच्य काव्य में व्यवहृत 'कविसमय' विषयक गवेषणात्मक संक्षिप्त अध्ययन करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

'कविसमय' काव्य शास्त्रीय अंग विशेष है। मूलतः 'कविसमय' एक पारिभाषिक शब्द है। 'कवि' और 'समय' के समवाय से इस शब्द का गठन हुआ है। समय शब्द अनेक अर्थ-अभिप्राय धर्मा है। आगम में समय शब्द आत्मा¹⁰ महाभारत में सिद्धान्त, अर्थ और आचार अर्थ में¹¹, मनुस्मृति में व्यवहार¹², अमर कोश में समय शब्द का प्रयोग शपथ, आचार्य सिद्धान्त तथा समविद् अर्थ में¹³, वाचस्पत्यम, कोश में समय शब्द काल, शपथ, आचार तथा सिद्धान्तार्थ¹⁴, हलायुध कोश में जो उचित से चला आ रहा है, अर्थ में प्रयुक्त है।¹⁵

यहाँ 'कवि समय' शब्द का सीधा सम्बन्ध काव्य तथा काव्य-शास्त्र पर आधारित है। इस दृष्टि से इसका आदिम प्रयोग आचार्य वामन के द्वारा किया गया है।¹⁶ आचार्यश्री ने इसे कविसमय के रूप में गृहीत किया है।¹⁷ जिसमें लोक अर्थात् देश, काल, स्वभाव, चतुर्वर्ग शास्त्र और विद्या आदि वर्णन अन्तर्भुक्त हैं।¹⁸

आचार्य राजशेखर कवि समय को उचित मानते हुए कहते हैं कि वेदों का अनेक विधि पारायण करने पर देश-देशान्तर की ज्ञान-सम्पदा पर आधारित वर्णन विशेष देश-काल के प्रभाव से भले ही आज उसमें अर्थ उत्पन्न हुआ हो, वस्तुतः 'कविसमय' के अन्तर्गत आ जाता है।¹⁹ अग्निपुराण में भी इसी मान्यता के दर्शन होते हैं।²⁰

साहित्यदर्पण में 'कविसमय' के लिए 'कवि विख्याति' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे तात्पर्य कवि-समाज में दीर्घ काल से चली आ रही परम्परा एवं परिपाटी से ही है। यहाँ ख्याति से तात्पर्य है प्रसिद्धि।²¹

कवि-प्रसिद्धि में 'वृक्ष-दोहद' को सम्मिलित किया गया है। अशोक, बकुल, तिलक तथा कुरबक की दोहद वृत्तियों का उल्लेख अवश्य किया गया है।²² 'काव्य-प्रकाश' में इसे प्रतिहेत्व दोष के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है।²³

हिन्दी में काव्य-शास्त्र के प्रमुख प्रणेता आचार्य केशवदास 'कविप्रिया' में 'कवि-समय' को 'कविमत' नाम देते हैं। इसमें असत्य बात का वर्णन तथा एक ही वस्तु के वर्णन में जो नियमन किया जाता है वस्तुतः वही 'कविमत' है।²⁴ महामहोपाध्याय गंगानाथ झा इसे 'पोइटिकल कन्वेंशन' कहते हैं।²⁵ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कविसमय को 'कवि प्रसिद्धि' के नाम से अभिहित करते हैं।²⁶ यहाँ इसका अर्थ आचार या सम्प्रदाय से लिया गया है।²⁷ डॉ. विष्णु स्वरूप आचार्य द्विवेदी की मान्यता से प्रभावित हैं। इन्होंने भी कवियों के समान आचरण को ही 'कविसमय' स्वीकार किया है।²⁸ बाबू गुलाब राय 'कविसमय' को परम्परागत बिना लिखा-पढ़ी का समझौता कहते हैं तथा वे काव्य में इनका वर्णन रेखागणित की पूर्व स्वीकृतियों की भाँति मानते हैं।²⁹ डॉ. कीथ द्वारा कविसमय को 'मोटिफ' का रूप प्रदान किया गया है।³⁰ इसी धारणा को डॉ. नामवर सिंह भी मान्यता प्रदान करते हैं।³¹ बाबू श्याम सुन्दर दास 'कवि परम्परा', 'कविप्रसिद्धि' और 'कवि समय' इन तीनों को एक-दूसरे का पर्याय मानते हैं। कवि-परम्परा को वह कवियों की परम्परा, पूरा कवि समूह या समुदाय जिसका प्रयोग कवि-परम्परा बराबर

करती चली आ रही है, कहते हैं। उन्होंने कवि प्रसिद्धि तथा कविसमय का अर्थ काव्य में प्रयुक्त सभी रुढ़ियों से लिया है जो सत्य न होने पर भी सत्य जैसी उल्लिखित हैं।³² हिन्दी साहित्य कोश में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा आचार्य राजशेखर की अनुमोदना करते हैं।³³

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'कवि समय' को 'कवि ख्याति', 'कवि-प्रसिद्धि', कविरुढ़ि आदि नामों से अभिहित किया गया है। इन सब में कवि अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त करने के लिए कविसमय की प्रवृत्ति और परम्परा का पालन करता है।

काव्य में 'कविसमय' के प्रयोग की एक विशद और व्यापक परम्परा रही है। इस सुदीर्घ परम्परा को हम (कविसमय की) निम्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं। यथा —

- (1) अलौकिक कवि समय।
- (2) लौकिक कविसमय।
- (3) नवीन उद्भावनाएँ।
- (4) स्त्री-पुरुष के अंग विशेष के रुढ़ि तथा नवीन उपमान।

आचार्य राजशेखर ने कविसमय की चर्चा करते हुये उन्हें तीन भागों में विभक्त किया है। यथा —

- (1) स्वर्ग्य, (2) पातालीय, (3) भौम।

स्वर्ग्य कविसमय की सुदीर्घ तालिका को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। यथा³⁴ —

- (1) चन्द्रमा में शश और मृग-चिह्न की एकता।
- (2) कामदेव के ध्वज-चिह्नों में मकर-मत्स्य की एकता।
- (3) चन्द्रमा की उत्पत्ति अत्रि नेत्र तथा समुद्र दोनों से ही मानना।
- (4) शिव के मस्तक का चन्द्रमावाले रूप में वर्णन करना।
- (5) कामदेव का मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में वर्णन करना।
- (6) बारह आदित्यों की एकता।
- (7) दामोदर, शेष, कर्म, लक्ष्मी तथा सम्पद् में एकता।

पातालीय कविसमय का मूलाधार निम्नांकित हैं³⁵ —

- (1) सर्पों और नागों की एकता।
- (2) दैत्य, दानव तथा असुर में एकता।

आचार्यों ने भौम भेद को निम्न रूप में व्यक्त किया है —

(1) जाति, (2) द्रव्य, (3) गुण, (4) क्रिया।

प्रत्येक को तीन रूपों में और विभक्त किया गया है।¹⁶ यथा

(1) असत्, (2) सत्, (3) नियमन।

इस प्रकार कुलभेद बारह हो जाते हैं।

काव्य में कवि-समय की उपयोगिता असंदिग्ध है। इससे काव्याभिव्यक्ति में सौन्दर्य की सर्जना होती है। सौन्दर्य का मूलाधार वस्तु-जगत हैं फिर चाहे वह प्रस्तुत हो अथवा अप्रस्तुत। उसमें सौन्दर्य का होना आवश्यक है। सौन्दर्य की भावना शास्त्र से जुड़ी नहीं होती, वह देश और काल की सीमा का अतिक्रमण कर मनुष्य मात्र के हृदय को प्रभावित करती है।¹⁷

कविसमय का मुख्य उद्देश्य काव्य में सौन्दर्य भाव की स्थापना करना है। काव्य में कविसमय का प्रयोग कवि की कल्पना शक्ति पर आधारित होता है। मानसरोवर को न देखनेवाला कवि भी मानसरोवर में हंस का वर्णन करता है। यह उसकी कल्पना-शक्ति का ही परिचायक है।

लोक में प्रचलित धारणाओं को बनाये रखने के लिए भी सम्भवतः कवियों द्वारा कवि समय का प्रयोग किया जाता रहा है। यथा

- (1) चक्रवाक युगल का रात्रि-वियोग,
- (2) चातक-मेघ-प्रेम,
- (3) चातक द्वारा स्वाति नक्षत्र का जल पीना,
- (4) चकोर का चन्द्रिका-पान,
- (5) चकोर का अंगार भक्षण करना आदि।

वृत्तिपरक कविसमयों का प्रयोग वृत्ति विशेष को प्रयोग करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है, यथा —

हंस अपनी उदात्त और शुद्ध वृत्ति के लिए प्रसिद्ध है।

वस्तु विशेष की व्यञ्जना के लिए प्रतीक रूप में कविसमयों का प्रयोग आवश्यक होता है। प्रेमी युगल के लिए चक्रवाल, चकोर, चातक को अनन्य प्रेमी के रूप में उल्लिखित किया जाता है। हंस तथा कमल आध्यात्मिक प्रतीक माने गये हैं।

इस प्रकार काव्याभिव्यक्ति में भाव, सौन्दर्य और सहजता उत्पन्न करने के लिए कविसमयों का उपयोग अपना महत्त्व रखता है।

महाकवि पुष्पदन्त वस्तुतः बुद्धिमान और विद्वान कवि थे। उनके विपुल काव्य में काव्य शास्त्रीय निकष के अनुसार सभी कोटि के कविसमयों को स्थान दिया गया है, अस्तु 'पुष्पदन्त-काव्य में प्रयुक्त कविसमय' विषयक एक स्वतंत्र अध्ययन और अनुशीलन की आवश्यकता है तथापि यहाँ उनके काव्य में कतिपय 'कविसमयों' की चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ।

लक्ष्मी की उत्पत्ति समुद्र-मंथन से मानी जाती है तथा कमल का वास भी जल में ही होता है। इस दृष्टि से भी इनमें अभिन्न तादात्म्य स्थिर होता है।

लक्ष्मी को कमला भी कहा जाता है। कमला कहने के मूल में कमल-लक्ष्मी का स्नेह भाव ही परिलक्षित होता है। महाकवि पुष्पदन्त ने लक्ष्मी को कमला, पद्मावती, कमलमुखी, कमल घर लक्ष्मी तथा कमल को कमलाकर आदि कहा है।³⁸

तीर्थकर की माता को दिखनेवाले सोलह स्वप्नों में कमल में निवास करनेवाली लक्ष्मी का वर्णन किया गया है।³⁹ एक अन्य स्थल पर लक्ष्मी को कमल हाथ में लिये हुये कमल में निवास करनेवाली कमलमुखी कहा गया है।⁴⁰

चतुर्विंशति स्तुति करते समय पद्मप्रभु को लक्ष्मी के गृह में निवास करनेवाले पद्मप्रभु कहकर सम्बोधित किया गया है।⁴¹ अमात्यनेत्र का वर्णन करते समय उसको पद्मिनी लक्ष्मी का मान-सरोवर कहा गया है।⁴² सौन्दर्य भाव की अधिष्ठात्री है लक्ष्मी। कवि समय के अनुसार स्त्री-सौन्दर्य की समता लक्ष्मी से की गई है। विवेच्य कवि भी लक्ष्मी उसी को मानते हैं जो गुणों से नत हो।⁴³ तीर्थकर ऋषभदेव की माँ मरुदेवी सोलह स्वप्नों में लक्ष्मी को देखती है। स्वप्न-फल पूछने पर राजा लक्ष्मी देखने का फल बतलाते हुए कहते हैं कि तुम्हारा पुत्र त्रिलोक की लक्ष्मी का स्वामी होगा।⁴⁴ लक्ष्मी का एक नाम चंचला भी है। इसी प्रवृत्ति के कारण विवेच्य कवि ने इसे एक स्थान पर कभी स्थिर न रहनेवाली स्वेच्छाचारिणी कहा है।⁴⁵

मूर्त-और-अमूर्त रूप में कामदेव विषयक कवि समय का प्रयोग णायकुमार चरित में इस प्रकार उल्लिखित है कि देवताओं के कहने पर कामदेव ने भगवान् की समाधि में विघ्न डाला था। उन्होंने क्रोधित होकर अपने तृतीय नेत्र की ज्वाला से कामदेव को भस्म कर दिया।⁴⁶

नायक-नायिका के सौन्दर्य वर्णन में उनको क्रमशः कामदेव और रति कहकर उनके मूर्तरूप का ही चित्रण किया जाता है। विवेच्य कवि ने बाहुबलि⁴⁷ रतिसेन⁴⁸ आदि तथा जयधर नागकुमार को साक्षात् कामदेव⁴⁹, मन्मथ⁵⁰, मकरध्वज⁵¹ आदि कहा गया है। हनुमान स्वयं बीसवें कामदेव⁵² तथा राम मनुष्यरूप में स्वयं कामदेव के रूप में उल्लिखित हैं।⁵³

राजा वैधव्य के पुत्र को मकरध्वज कहते हुये कवि कहता है कि मकरध्वज तो अरूपी है उसे रूप कैसे दिया जाय।⁵⁴ अभयरुचि अपना पूर्वभव बतलाते हुए कहते हैं कि मैं अर्थात् यशोधर कुमारकाल में अंगधारी स्वयं अनंग था।⁵⁵

इसके अतिरिक्त कामदेव के वाणों को पुष्पमय⁵⁶, कामदेव के धनुष की प्रत्यंचा भ्रमर तथा भौंहें मानी गई हैं।⁵⁷ नीर-क्षीर विवेक कविसमय के अनुसार हंस का वर्णन पानी और दूध को अलग-अलग कर देनेवाले के रूप में वर्णन मिलता है।⁵⁸ विवेच्य कवि ने हंसों की कतार को सज्जनों की चलती-फिरती कतार कहा है।⁵⁹

उलूक को दिवस में दिखलाई नहीं देता है। वह एतदर्थ रात्रि में भ्रमण करता है। इस कविसमय का महाकवि पुष्पदन्त द्वारा अनेक विधि वर्णन हुआ है।⁶⁰ प्रलय काल में राहु सूर्य को ग्रसित कर लेता है। इसी कविसमय के आधार पर विवेच्य कवि ने सिंह पुराधीश को नागकुमार के द्वारा बाँध लिया वर्णित किया है।⁶¹ जिस प्रकार राहु चन्द्रमा को निष्प्रभ कर देता है, उसी प्रकार व्याल सोम प्रभ को श्री हीन कर के छोड़ देता है।⁶² कालीगंध से युक्त थाल ऐसा प्रतीत होता है मानों राहु से ग्रसित नवसूर्य हो।⁶³

इसके अतिरिक्त स्त्री तथा पुरुष के अंग विशेष के लिए प्रयुक्त रुढ़ तथा नवीन उपमानों का प्रयोग विवेच्य काव्य में कविसमय के रूप को स्वरूप प्रदान करता है। कविसमयपरक अध्ययन और अनुशीलन करने से कवि के विस्तृत ज्ञान तथा कल्पना शक्ति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। इस प्रकार विवेच्य महाकवि की काव्य प्रतिभा का परिचायक यह कथन-‘जहाँ पहुँचे न रवि, वहाँ पहुँचे कवि’ पूर्णतः चरितार्थ होता है।

इत्यलम्।

-
1. गाय कुमार चरिउ, पुष्पदन्त, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पृष्ठ 174।
 2. वही पृष्ठ 2।
 3. संक्षिप्त जैन साहित्य का इतिहास, भाग 3, खण्ड 4, बाबू कामता प्रसाद जैन, पृष्ठ 152।
 4. गायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, पृष्ठ 2।
 5. महापुराण, भाग 1, पुष्पदन्त, डॉ. देवेन्द्र कुमार, भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली, पृष्ठ 8।
 6. संक्षिप्त जैन साहित्य का इतिहास, भाग 3, खण्ड 4, बाबू कामता प्रसाद जैन, पृष्ठ 77।
 7. (अ) महापुराण, पुष्पदन्त, सं. परशुराम वैद्य, माणिकचन्द्र दि. ग्रंथ माला समिति।
(ब) महापुराण, सम्पूर्ण भाग, पुष्पदन्त, डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
 8. गायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
 9. जसहर चरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
 10. समयसार, आचार्य कुंदकुंद, प्रथम अधिकार, गाथा 2-3।

11. महाभारत, वेदव्यास, रामनारायणदत्त शास्त्री, गीताप्रेस, गोरखपुर, षष्ठ अध्याय ।
12. मनु स्मृति, मनु, हरिगोविन्दशास्त्री, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, दशवाँ अध्याय ।
13. अमरकोश, अमरसिंह, जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृष्ठ 101 ।
14. वाचस्पत्यम् कोश, भाग 6, तारानाथ वाचस्पति भट्टाचार्य, पृष्ठ 5229 ।
15. हलायुध कोश, जयशंकर जोशी, हिन्दी साहित्य समिति विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, पृष्ठ, 693 ।
16. काव्यालंकार, सूत्रवृत्ति, टीका, आचार्य विश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृष्ठ 281 ।
17. वही, पृष्ठ 281 ।
18. वही, पृष्ठ 108-110 ।
19. काव्यमीमांसा, आचार्य राजशेखर, केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ 160 ।
20. अग्निपुराण, दीपायन व्यास, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, पृष्ठ 2-3 ।
21. साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ, श्रीमद्जीवनन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, पृष्ठ 615-16 ।
22. (अ) साहित्य दर्पण, पृष्ठ 615-18 ।
(ब) काव्य मीमांसा, राजशेखर, पृष्ठ 196 ।
23. काव्य प्रकाश, मम्मट, ज्ञानमण्डल लि., श्लोक 264 ।
24. कवि प्रिया, केशवदास, विश्वनाथ प्रसाद सिंह, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृष्ठ 108 ।
25. कवि रहस्य, गंगानाथ झा, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृष्ठ 77 ।
26. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृष्ठ 201 ।
27. वही, पृष्ठ 201-2 ।
28. कवि समय मीमांसा, डॉ. विष्णुस्वरूप, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, पृष्ठ 20 ।
29. कवि समय, बाबू गुलाबराय, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन ग्रंथ, मथुरा, पृष्ठ 253 ।

30. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, ए.बी.कीथ, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 338।
31. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ 283।
32. हिन्दी शब्द सागर, द्वितीय भाग, बाबू श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ 862।
33. हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृष्ठ 208-9।
34. काव्यमीमांसा, राजशेखर, केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ 210-14।
35. काव्यमीमांसा, राजशेखर, केदारनाथ सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृष्ठ 215-16।
36. वही, पृष्ठ 195।
37. सौन्दर्यतत्त्व निरूपण, डॉ. एस. टी. नरसिंहचारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
38. "कमला सण कमला कमल मुहि तुहि- मुहु कमलु णिहलई।"
महापुराण, पुष्पदन्त, भाग 2, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संधि 24 पृष्ठ 196।
39. 'बहुविलासिणी यलियणयावासिणी।'
महापुराण, भाग 2, संधि 41 पृष्ठ 80।
40. "कहु अगगइ धावइ कमल करि कमलालव कमलाण मियसिरि।"
महापुराण, भाग 2, संधि 15, पृष्ठ 33।
41. "नई सुमइ सुमइ सम्मय पयास जय पउम प्पहुपउ माणि वासु।"
जसहरचरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संधि 1, पृष्ठ 2।
42. "लच्छी पो मिणिमाणस सरेण"।
णायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, संधि 1, पृष्ठ 4।
43. "सा सिरिजा गुणाणय गुणये जेगय - गुणहि चित्तहय दुरिड"।

- महापुराण, पुष्पदन्त, भाग 1, संधि 19, पृष्ठ 4।
44. वही, संधि 2, भाग 1, पृष्ठ 52।
45. वही, भाग 1, संधि, 16, पृष्ठ 370।
46. णायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संधि 3, पृष्ठ 50।
47. “तुच्छ बुद्धि अप्पउ अवगण्णमि पहिलउ कामए उकि वण्णमि।”
महापुराण, पुष्पदन्त, भाग 1, संधि 5, पृष्ठ 107।
48. महापुराण, भाग 3, संधि 39, पृष्ठ 25।
49. “तहिं पिवइ जयंधर, धरिय धरणि, ते एण विणिज्जिय तरुण तरंणि।”
“उप्पणु ताहं णं कुसुमवाण, सुउ सिरिहरु अहितरुवर किसानु।”
णायकुमारचरिउ, पुष्पदन्त, संधि 1, पृष्ठ 14
50. णायकुमार, संधि 5, पृष्ठ 72।
51. वही, संधि 5, पृष्ठ 72।
52. महापुराण, पुष्पदन्त, खण्ड 2, संधि 73, पृष्ठ 244।
53. वही, संधि 78, पृष्ठ 485।
54. “आएउ जणिउ थणद्धउकेहइ, सावे मयरद्धउ जेहउ।
मयरद्ध यहो रुउकि किज्जइ, पयडुव दीसइ उप्पय दिज्जइ।”
जसहरचरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, संधि 4, पृष्ठ 144.
55. जसहरचरिउ, संधि 1, पृष्ठ 26.
56. णायकुमार चरिउ, संधि 3, पृष्ठ 42.
57. वही, संधि 1, पृष्ठ 16.
58. ‘मयरंद गध मीणाहरणु। हसहं वि खीर जल पिहुकरणु॥’
महापुराण, पुष्पदन्त, खण्ड 2, परशुराम वैद्य, संधि 69, पृष्ठ 383.
59. “ओयरिय सरोवरि हंसपतिचल धवल णाई सप्पुरिस किति।”
महापुराण, पुष्पदन्त, संधि 1, पृष्ठ 16।

60. “विहडंत वीरे सहुकार कारं पल्लिपंत, सत्तच्चि धूमं धयाएं।
महुड्डी णभुलीण कीला उलयं, समुद्धत पग्गुग्ग वेयाल रुयं ॥”
महापुराण, पुष्पदन्त, खण्ड 3, संधि 3, पृष्ठ 33।
61. “धरिउ कुमार सीहउरे दरु णाइ, णिडप्पे खयदिणणेसरु।”
गायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, डॉ. हीरालाल जैन, संधि 7, पृष्ठ 118।
62. गाय कुमार चरिउ, संधि 6, पृष्ठ 104।
63. “पवण कसण गंधो रकरंवउ, उप्पर जंतु वणवर विवउ ॥”
महापुराण, पुष्पदन्त, भाग 1, संधि 2, पृष्ठ 23।

मंगल कलश

394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़-202001



‘सुदंसणचरिउ’ में सौन्दर्य और बिम्ब

— डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव

प्राकृतोत्तर अपभ्रंश-चरितकाव्यों की सांगोपांग विकास-परम्परा में ‘सुदंसणचरिउ’ का पार्यन्तिक महत्त्व है। इसके प्रणेता अपभ्रंश के रस सिद्ध कवीश्वर मुनि नयनन्दी (ग्यारहवीं शती की अन्तिमावधि) हैं। अन्तः साक्ष्य के अनुसार, ‘सुदंसणचरिउ’ एक ऐसा चरितकाव्य है, जिसमें रस-बहुल आख्यान परिगुम्फित हुआ है। इसकी कथावस्तु में समाहित कलाभूयिष्ठ काव्य-वैभव के तत्त्वों की वरेण्यता के कारण ही इस कृति की रचनागत रमणीयता का अपना विशिष्ट मूल्य है। साहित्यिक या काव्यात्मक वैभव के विधायक मूल तत्त्वों ने हृदयहारी सौन्दर्य और मनोहारी बिम्ब प्रमुख हैं। ‘सुदंसणचरिउ’ इन दोनों ही तत्त्वों की व्यावर्तक विशेषताओं से विमण्डित है। चित्ताकर्षक सौन्दर्य के सुष्ठु समायोजन और हृदयावर्जक बिम्बों के रम्य-रुचिर विनियोग की दृष्टि से ‘सुदंसणचरिउ’ एक आपातरमणीय काव्य है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को ‘वीतविघ्ना प्रतीतिः’ कहा है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति (इम्पैथी) के रूप में स्वीकार किया है। मुनिश्री नयनन्दी द्वारा प्रस्तुत सेठ सुदर्शन की चरित-कथा की भी यही विशेषता है कि इसमें सौन्दर्य की निर्विघ्न प्रतीति होती है, इसलिए इसकी कथा को पढ़ते समय इसके पात्र-पात्रियों के साथ पाठकों की अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति हो जाती है। सामान्यतः ‘सुदंसणचरिउ’ की काव्यभाषा इतनी प्रांजल है कि मूल के अर्थ या भाव समझ पाने में प्रवाहावरोध की स्थिति कहीं भी कथमपि नहीं आती।

सौन्दर्य-समायोजन

महाकवि कालिदास की भाँति मुनिश्री नयनन्दी की भी सौन्दर्यमूलक मान्यता वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के समर्थक पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों के समानान्तर है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों का मत है कि सौन्दर्य वस्तु में होता है, दृष्टा के मन में नहीं। अतः जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वदा और सर्वत्र सुन्दर है। संस्कृत में कहावत भी है-‘सुन्दरे किं न सुन्दरम्’ कालिदास ने भी आश्रमवासिनी शकुन्तला के सन्दर्भ में इस मत को, यानी वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यवाद को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार सेंवार से लिपटी रहने पर भी कमलिनी रमणीय प्रतीत होती है, चन्द्रमा का मलिन कलंक भी उसकी शोभा बढ़ाता है। उसी प्रकार तन्वंगी शकुन्तला भी केवल वल्कल पहने रहने पर भी अधिक मनोज्ञ लगती है, इसलिए कि मधुर या सुन्दर आकृतिवालों के लिए अलंकरण की आवश्यकता ही क्या है?

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 1.19)

मुनिश्री नयनन्दी ने भी सागरदत्त सेठ की पुत्री और सेठ सुदर्शन की पत्नी सर्वांग सुन्दरी मनोरमा के मोहक आंगिक सौन्दर्य का जो विस्तृत वर्णन किया है, उससे स्पष्ट है कि अनलंकृत होते हुए भी उस सुकुमारी बाला का सुन्दर रूप विस्मयकारी था। इसलिए, सुदर्शन सेठ उसे देखते ही विस्मित हो जिज्ञासा से भर उठा था —

सोमालियह तह बालियह रूउ णियच्छिवि सुहयरु।
विंभियमणेण सुहदंसणेण पुणु आउच्छिउ सहयरु॥ 4.3.3

सौन्दर्य-विवेचन में, विशेषतः नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन में कविश्री मुनि नयनन्दी ने उदात्तता (सब्लाइमेशन) का भरपूर विनियोग किया है। सेठ ऋषभदास की सेठानी अर्हद्दासी के सौन्दर्यांकन में कविश्री ने उदात्तता से काम लिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत सेठानी के अविनिन्दित और अलंकृत उदात्त सौन्दर्य की मनःप्रसादक झाँकी द्रष्टव्य है —

दीहरच्छि रयणावलि-भासिय, णं धम्महँ णयरी आवासिय।
अइपसण्ण कंतिल्ल सुहावह, ससिरेहा इव कुवलयवल्लह।
लक्खणवंति य सालंकारिय, सुकइकहा इव जणमणहारिय।
कुंकुमकप्पूरेण पसाहिय, वनराइ व तिलयंजणसोहिय।(2.6)

अर्थात्, बड़ी-बड़ी और लम्बी आँखोंवाली वह सेठानी अपनी रमणीय दन्तपंक्ति (रदनावली) से इस प्रकार सुशोभित हो रही थी, मानो रत्नत्रय की पंक्ति (रत्नावली) से सुशोभित धर्म कं नगरी हो। अतिशय प्रसन्न, कान्तिमती और सुख देनेवाली शोभा से मण्डित सेठानी चन्द्रलेख

के समान समस्त भूमण्डल (कु-वलय) को प्रिय थी। सुलक्षणा और अलंकारवती वह सेठानी उसी प्रकार जन-मन को आकृष्ट करती थी जिस प्रकार सुकवि-कृत लक्षणा आदि काव्यगुणों से युक्त अलंकारभूयिष्ठ कथा पाठकों के मन को आवर्जित करती है। कुंकुम (केसर) और कपूर से प्रसाधित तथा तिलक और अंजन से अलंकृत वह सेठानी उस वनराजि के समान सुशोभित थी जो कुंकुम, कपूर, तिलक और अंजन-वृक्षों से व्याप्त हो।

कवि श्री मुनि नयनन्दी के प्रस्तुत अवतरण में सेठानी के सौन्दर्य-वर्णन के व्याज से श्लेषगर्भ काव्य-सौन्दर्य का चमत्कार उत्पन्न किया गया है। 'रयणावली' शब्द के प्रयोग से 'रदनावली' और 'रत्नावली' दोनों की अर्थच्छाया की प्रतीति होती है और फिर, कुंकुम, कपूर, तिलक और अंजन से वृक्षराजि का अर्थ भी द्योतित होता है।

काव्यकार मुनिश्री नारी-सौन्दर्य के समानान्तर पुरुष-सौन्दर्य का भी उदात्त चित्र आँकने में कुशल हैं। यहाँ पुरुष-सौन्दर्य का एक मनोरम चित्र दर्शनीय है, जो सेठ सुदर्शन की शारीरिक संरचना के रूप में उपन्यस्त किया गया है —

जस्स णीलनिद्धु केसु, आयवत्तवित्तु सीसु।
 दिव्वउण्णयं विसालु, अद्धयंदतुल्ल भालु।
 सुंदराउ भूलयाउ, णं दुहंडु-कामचाउ।
 चंचलच्छिंदयु रम्म, कीलरं व मच्छजुम्म।
 कुंडलेहिं जुत्त कण्ण, सोह दिति का वि अण्ण।
 चंपहुल्लणासवंसु, मच्चलोयमज्झि संसु।
 सुद्ध णिद्ध दंतपंति, मोत्तियाण दिण्णभंति।
 पक्काबिंबववण्ण होट्ट, किं ण होत्ति लच्छिइट्ट।
 आणणं विहाइ रुंदु, णं निरब्भपुण्णमिंदु।
 कंठमज्जु सुट्टु भाइ, तिण्णारेह संखुणाइ।
 सुप्पयंड बाहुदंड, णं सुरिदहत्थि सुंड।
 जित्तसोयवत्त हत्थ, वज्जचूरणे समत्थ।
 वच्छु चक्कलं विहाइ, लच्छिकीलहम्मु णाइ।
 मज्झएसु मुट्टिगेज्जु, णाइं वज्जदंडमज्जु।
 सुग्गहीरु णाहिवेहु, णं अणंगसप्पगेहु।
 सण्णियंबु सोहगीदु, णाइं कामरायपीदु।
 दो विपीण जंधियाउ, ऊवमाविवज्जियाउ।
 गूढगुप्फया सहंति, णाइं कामरायमंति।
 कुम्मयार हेमछाय, दीहअंगुलिल्ल पाय।
 भासए णहाण पंक्ति, छंदओ समाणियंति। (3.10)

अर्थात्, युवक सुदर्शन के बाल काले और चिकने थे। सिर छत्र के समान गोलाकार था। अर्द्धचन्द्र के समान उनका भाल दिव्य, उन्नत और विशाल था। भ्रू-लताएँ कामधनु के दो खण्ड

जैसी थीं। रमणीक चंचल आँखें क्रीड़ा करती मछलियाँ जैसी थीं। कुण्डल-कलित कान कमनीय थे। चम्पा के लम्बे फूल के समान नासिका-वंश मर्त्य लोक में प्रशंसनीय था। दन्तपंक्ति में मुक्तामाला की भ्रान्ति होती थी। उसके पके बिम्बफल के समान होठ लक्ष्मी को भी प्रिय थे। निरभ्र आकाश में उगे पूर्णचन्द्र के समान उसका मुखकमल था। तीन रेखाओं से मण्डित उसका कण्ठ शंख की तरह लगता था। उसके प्रचण्ड भुजदण्ड ऐरावत के शुण्डादण्ड की तरह थे। अशोक पत्र जैसे उसके हाथ इतने बलशाली थे कि उनमें वज्र को भी चूर्ण-विचूर्ण करने की शक्ति भी थी। वक्षःस्थल तो लक्ष्मी का क्रीडागार जैसा लगता था। मुष्टिग्राह्य मध्यभाग (कटिभाग) वज्रदण्ड के समान था। नाभि की गहराई अनंगरूप भुजंग की निवास-गुहा के समान थी। कामराज-पीठ जैसे उसके नितम्ब बड़े शोभाशाली थे। उसकी दोनों पुष्ट जंघाएँ अनुपम थीं। उसके मांसगूढ गुल्फ (टखने) कामराज के मन्त्री जैसे थे। कछुए जैसे पैर लम्बी-लम्बी स्वर्णिम अँगुलियों से शोभित थे। नखपंक्ति अतिशय कान्तियुक्त थी।

इस अवतरण में सौन्दर्य की उदात्तता का चूडान्त निदर्शन तो हुआ ही है, कविश्री ने 'छन्दओ समाणियं ति' के उल्लेख द्वारा यह निर्देश कर दिया है कि प्रस्तुत कड़वक 'समानिका' नामक वार्णिक छन्द में आबद्ध है। ज्ञातव्य है, पिंगलशास्त्र के अनुसार इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण, जगण और गुरु-लघु होते हैं।

छन्द और अलंकार के मर्मज्ञ कविश्री मुनि नयनन्दी के 'सुदंसणचरिउ' में इस प्रकार के अनेक उदात्त सौन्दर्य के चित्र अंकित हैं। काव्यकार ने अपने सौन्दर्य-चित्रण में आध्यात्मिक वृत्ति, गहन आन्तरिकता और इन्द्रियग्राह्य प्रकृति के चित्र को प्रभूत मूल्य प्रदान किया है।

बिम्ब-विनियोग

बिम्ब-विधान की दृष्टि से भी 'सुदंसणचरिउ' की काव्यभाषा अतिशय महत्त्वपूर्ण है। बिम्ब-विधान कलाचेता कवि की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रिय ग्राह्यता प्रगटन करता है। काव्यकार मुनिश्री नयनन्दी द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ युग की विचारधारा का भी पता चलता है। कुल मिलाकर, बिम्ब एक प्रकार का रूप-विधान है और वस्तुगत आकर्षण ही किसी काव्यकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब दृश्य या चाक्षुष होते हैं। काव्यकार नयनन्दी द्वारा गंगानदी की एक नायिका के रूप में प्रस्तुति के क्रम में निर्मित रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दमूलक पंचेन्द्रिय-ग्राह्य बिम्बों में प्रमुख चाक्षुष बिम्ब का मनोरम विनियोग दृष्टव्य है —

पप्फुल्लकमलवर्तँ हसंति, अलिवलयघुलिय अलयइँ कहंति।
दीहरझसणयणहिँ मणुहरंति, सिप्पिउडोडुउडहि दिहि जणंति।
मोत्तियदंतावलि दरिसयंति, पडिबिंबिउ ससिदप्पणु णियंति।
तडविडविसाह बाहहि णडंति, पक्खलणतिभंगिउ पायडंति।
वरचक्कवाय थणहट णवंति, गंभीरणीर भमणाहिवंति।
फेणोहतारहारुव्वहंति, उम्पीविसेस तिवलिउ सहंति।

सयदलणीलंचल सोह दिंति, जलखलहलरसणादामु लिति।
मंथरगति लीलए संचरति, वेसा इव सायरु अणुसंरति। (2.12)

अर्थात्, सुरसरि (गंगानदी) खिले कमल जैसे मुख से हँस रही थी। घूमती हुई भँवरें उसकी अलकों जैसी थीं। लहरों में तैरती मछलियाँ उसकी मनोहारिणी चंचल आँखों के समान थीं। सीपयों के पुट उसके होठ थे। मुक्ता-पंक्ति उसकी दन्तावली थी। चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से युक्त जल में, जैसे वह दर्पण में अपना मुँह निहारती-सी प्रतीत होती थी। तटवर्ती वृक्षों की कम्पित शाखाओं से वह नृत्य करती-सी मालूम पड़ती थी। बलखाती जल की लहरियाँ उसकी त्रिवली जैसी शोभित थीं। नीलकमल उसके नीलाम्बर के समान सुशोभित थे। जल के तरंग उसके कटिसूत्र जैसे थे। जिस प्रकार नायिका नायक का अनुसरण करती है, उसी प्रकार गंगा लीलापूर्वक मन्थर गति से संचरण करती हुई सागर की ओर प्रवाहित हो रही थी।

प्रस्तुत अवतरण में मनोरमगत्वर चाक्षुषबिम्ब (डाइनेमिक ऑप्टिकल इमेज) का विधान हुआ है। यथानिर्मित वस्तुबिम्ब में दृश्य के सादृश्य पर रूपविधान तो हुआ ही है, उपमान, रूपक या अप्रस्तुत के द्वारा भी संवेदन या तीव्र अनुभूति की प्रतिपत्ति के माध्यम से अतिशय मोहक नारी-बिम्ब का हृदयावर्जनकारी निर्माण हुआ है। रंग-परिज्ञानमूलक प्रस्तुत इन्द्रियगम्य बिम्ब अतिशय कला-रुचिर है। वस्तुतः, काव्यकार ने गंगा (नदी) के एक बिम्ब में अनेक बिम्बों का मनोज्ञ समाहार या मिश्रण उपस्थित किया है।

‘सुदंसणचरिउ’ में काव्यकार-निर्मित उपमान, उत्प्रेक्षा और रूपकाश्रित बिम्बों का बाहुल्य है, जिन्हें हम भाव जगत् के एक अनुभूत महार्घ सत्य की रूपात्मक अभिव्यक्ति कह सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, मगधदेश, राजगृह, राजा श्रेणिक, विपुलाचल, अंगदेश, चम्पानगरी, वनवृक्षावली, कपिल ब्राह्मण, सूर्यास्त, रात्रि, सूर्योदय, कामिनी कपिला, रानी अभया, सरोवर आदि से सन्दर्भित बिम्ब भाषिक और आर्थिक विभुता से आपातरमणीय हो गये हैं।

बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में मुनिश्री नयनन्दी की काव्यभाषा की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। काव्यकार की भाषा सहज ही बिम्ब-विधायक है। काव्यकार मुनिश्री की काव्य-साधना मूलतः अपभ्रंश-भाषा की साधना का ही उदात्त रूप है। वाक् और अर्थ के समान प्रतिपत्ति की दृष्टि से मुनिश्री नयनन्दी की भाषा की अपनी विलक्षणता है। काव्यकार-कृत समग्र बिम्ब-विधान सहजानुभूति की उदात्तता का भव्यतम भाषिक रूपायन है।

कुल मिलाकर, ‘सुदंसणचरिउ’ के प्रणेता द्वारा अनेक शब्दाश्रित और भावाश्रित बिम्बों का विनियोग किया गया है, जिनमें भाषा और भाव, दोनों पक्षों का सार्थक समावेश हुआ है। इस काव्य में प्राप्य कतिपय मोहक बिम्बोद्भावक भाषिक प्रयोग यहाँ समेकितरूप में उपन्यस्त है -

महि-महिलए णियमुहि णिम्मविउ णाडँ कवोलपत्तु तिलउ ।

- पृथिवी-रूप महिला ने अपने मुँह पर कपोलपत्र और तिलक्र अंकित किये (1.3);

छणससिवयणु कुसुमसरगुणहरु

- वह पूर्णचन्द्रमुखी कामधनु की प्रत्यंचा थी (1.5);

णहसिरितियाहे ण्हावंतियाहे, रविकणय-कुंभु ल्हसियउ सुसुंभु

- (सूर्यास्त के समय सूर्य ऐसा प्रतीत हो रहा है) मानों नभश्री-रूप स्त्री के स्नान करते समय उसका रवि-रूप मनोहर कनक-कुम्भ (स्तन) खिसक पड़ा हो (5.7);

कोसुमगुंछु व गयणासोयहो

- (सूर्योदय के समय सूर्य ऐसा लगता है) जैसे वह आकाशरूप अशोक वृक्ष का पुष्पगुच्छ हो (5.10);

तरइ क वि तरुणि अइतरल सहरि व जलं

- अतिशय चंचल शफरी (मछली) जैसी तरुणी (जलक्रीड़ा करते समय) जल में तैरती है (7.18);

जुण्ण-देवकुलिया-सरिस अभया

- शोभाहीन जीर्ण देवकुटी जैसी रानी अभया (8.1) आदि।

उपर्युक्त समस्त प्रयोग पंचेन्द्रियग्राह्य बिम्बों में प्रमुख विशेषतः चाक्षुष बिम्बों के उत्तम निदर्शन हैं। इनमें काव्यकार की सूक्ष्म भावनाओं और रमणीय कल्पनाओं या फिर अमूर्त-अप्रस्तुत सहजानुभूतियों को बिम्ब-विनियोग द्वारा मूर्तता या अभिव्यक्ति की चारुता प्राप्त हुई है। ये सभी बिम्ब सृष्टा की चिन्तानुकूलता से आश्लिष्ट हैं, इसलिए चित्रात्मक होने के साथ ही अतिशय भव्य और रसनीय हैं।

पी. एन. सिन्हा कॉलोनी
भिखना पहाड़ी, पटना 800006

करकण्डचरिउ में कथानक-रूढ़ियाँ

— डॉ. त्रिलोकानाथ 'प्रेमी'



भारतीय-वाङ्मय में संस्कृत-साहित्य कथा-विधा के विभिन्न रूपों, प्रतिपाद्य की विविधताओं और शैलियों के प्रकारों की दृष्टि से जितना समृद्ध-संपन्न है उतना अन्य कोई परवर्ती साहित्य नहीं। परन्तु अपभ्रंश साहित्य के रचयिताओं ने इस विधा को बहुत सजाया-सँवारा तथा नव्यतरम रूप में ढालकर अतुलनीय और बेजोड़ बना दिया, इस सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता। इनके द्वारा रचित चरिउ तथा रास आदि काव्य-रूपों में भी कोई-न-कोई कथा ही अनुस्यूत रहती है। ये सभी कथाएँ प्रायः पद्यबद्ध मिलती हैं। भविसयत्तकहा, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, गौतमस्वामी रास, भरतेश्वर-बाहुबलि रास, रेवेन्तगिरि रास आदि अपभ्रंश की ऐसी ही रचनाएँ हैं। अपभ्रंश के लाड़ले छन्द दूहा की तरह इन कथा-काव्यों की नूतन, मौलिक और सरस-संपन्न संरचना इसके साहित्य की अपनी अलग विशेषता रही है। इनके रचयिता अधिकांशतः जैन-मुनि और आचार्य ही होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि इन वीतरागी महात्माओं की उर्वर-कल्पना ने इस विधा को लौकिक और अलौकिक दृष्टि से सरल-सरस बनाकर अपने शीर्ष पर पहुँचा दिया। यह ठीक है कि ये कहानियाँ जैन-धर्म के प्रचारार्थ ही लिखी गईं पर, इनके रूप-संयोजन, कथा-संघटन, शिल्प, काव्य-रूढ़ियों और कथानकरूढ़ियों के कलात्मक प्रयोग ने तो जैनेतर साहित्यकारों और सहृदय पाठकों को भी प्रभावित किया है। परवर्ती हिन्दी-साहित्य इनका सदैव ऋणी रहेगा। लोक-जीवन और संस्कृति की सहज-सरस अभिव्यक्ति जैसी इन कथाओं में मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। ये जैन-कवि और आचार्य जन-जीवन के चारित्रिक और नैतिक-स्तर को उन्नत करने के आकांक्षी थे। इसी से अपभ्रंश-

साहित्य का यह अंग सामान्य लोक-जीवन के गहरे संपर्क में रहा है और, सच बात तो यह है कि सामान्य जन-जीवन की बात को लोक-भाषा में कहने और खुलकर अभिव्यक्त करने का यह प्रथम अवसर था। इस विचार से अपभ्रंश के इन जैन-कवियों को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

‘करकण्डचरिउ’ में लोक-जीवन और संस्कृति का पूरा पुट देखा जाता है और लगता है यह किसी विख्यात लोक-नायक की कथा है। बौद्ध-साहित्य के कुंभकार-जातक में भी करंड नामक राजा की कथा मिलती है। और, फिर अपभ्रंश का समूचा कथा-साहित्य तो लोक-भाव-भूमि पर ही खड़ा है। लोक-कथा या गाथाओं में रोचकता की सृष्टि के लिए प्रयुक्त हुए विविध कला-तन्तु जब पुनः-पुनः प्रयोग में आने से रूढ़ हो जाते हैं, तब उन्हें कथानक-रूढ़ि या अभिप्राय कहा जाता है। अति प्राकृत एवं अलौकिक होने पर भी ये जीवनगत संभाव्य या यथार्थ से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं होते और हमारे लोक-विश्वास, आस्था तथा साहित्यिक-परम्परा में इस प्रकार संपृक्त हो जाते हैं कि एक बार अपने मृदुल प्रभाव से अवश्य अभिभूत करते हैं।¹ पश्चिम में इनके लिए ‘मोटिफ’ (Motif) शब्द का प्रयोग होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में - ‘हमारे देश के साहित्य में कथानक को गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यहृत होते आये हैं जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ियों में बदल गये हैं।²

मूल-स्रोत की दृष्टि से इन कथानक-रूढ़ियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है - (1) लोक-विश्वास पर आधारित और (2) कवि-कल्पित। प्रथम अधिकतर असंभव प्रतीत होनेवाली, अवैज्ञानिक और भ्रम पर आधारित होती हैं; पर लोक-जीवन में उनकी प्रतिष्ठा कभी-न-कभी सत्य के रूप में रहती अवश्य है। लेकिन, कवि-कल्पित रूढ़ियाँ केवल अलौकिकता और चमत्कार उत्पन्न करने के लिए होती हैं। पुनः इनको अनेक भेदों में विभक्त किया जा सकता है, यथा-धर्म-गाथाओं से संबद्ध, वीर गीतों में प्रयुक्त, निजंधरी कथाओं में परिबद्ध, लोक-कथाओं और लौकिक प्रेमाख्यानों में निरूपित।

इन कथानक-रूढ़ियों का न्यूनाधिक प्रयोग यों तो अपभ्रंश की ऐसी सभी प्रबंधात्मक कृतियों में मिलता है; परन्तु मुनि कनकामर-रचित ‘करकण्डचरिउ’ इस दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध रचना है। करकंड की कथा इस प्रबंध में दस संधियों में निबद्ध है। प्रत्येक संधि अनेक कड़वकों से मिलकर बनती है। प्रथम संधि के कुछेक कड़वकों को छोड़कर प्रत्येक संधि के कड़वकों में कोई-न-कोई कथानक-रूढ़ि गुँथी हुई है और इस प्रकार मूल कथा को गति मिलती है। नौवीं-दसवीं संधियों में निबद्ध अनेक अवान्तर कथाएँ भी इन्हीं कथानक-रूढ़ियों के सहारे चलती हैं और कथा की मुख्य धारा से मिलती हैं। इस प्रकार इसका कथानक इन कथा-रूढ़ियों के अतिशय प्रयोग से बड़ा बोझिल तथा पेचीदा हो गया है। यह ठीक है कि इनसे करकण्ड किसी-न-किसी प्रकार अवश्य प्रभावित होता है और उससे चरित्र का अवश्य कोई रहस्य उद्घाटित होता है तथा उसमें निखार एवं उन्नयन होता है। परन्तु, कथानक की सहजता-सरसता में व्याघात तो होता ही है। पाठक एक बार अवश्य मूलकथा से कटकर कथानक-रूढ़ियों के ही भँवर में फँस जाता है और बड़ी कठिनाई से कथा के पूर्व-प्रसंग से जुड़कर उसके अगले संबंध को

पकड़ता है। इसका पूर्वाद्ध जितना सहज-सरल, सरस और रोचक है, उत्तराद्ध उतना ही दुरूह और अ-सहज है। हाँ, अंत में फिर धार्मिक-प्रयोजन में सहजता का समाहार हो जाता है।

'करकण्डचरित' के संपूर्ण कथानक में प्रायः पचास से अधिक कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है; जिन्हें निम्न प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है —

(1) धर्म-गाथाओं से संबद्ध - ये वे कथानक-रूढ़ियाँ होती हैं जिनमें धार्मिक, अवतारों, देवी-देवताओं के प्राकट्य और अलौकिक क्रिया-कलाप तथा विरोधी आसुरी-शक्तियों पर उनकी विजय का निरूपण है। यहाँ ऐसी अनेक रूढ़ियाँ दृष्टव्य हैं, यथा -

- (1) मातंग द्वारा सद्यः उत्पन्न बालक को हाथ में लेना और अपने घर लाकर पालन-पोषण करना। (दूसरी संधि)
 - (2) मंत्रों द्वारा राक्षस का दर्प खंडित होना और राक्षस का किन्नर बनना। (दूसरी संधि)
 - (3) खेचर द्वारा करकंड को नीति का ज्ञान कराना। (दूसरी संधि)
 - (4) खेचरी विद्या से युद्ध। (तीसरी संधि)
 - (5) खड्गलता से खेचरी-विद्या की शक्ति क्षीण होना। (तीसरी संधि)
 - (6) पर्वत की सहस्रस्तंभ गुफा की बामी पर श्वेतवर्ण हाथी का नित्य पूजन करने आना। (चौथी संधि)
 - (7) बामी को खुदवाकर जिन-बिम्ब को पाना। (चौथी संधि)
 - (8) जिन-सिंहासन में जलवाहिनी को रोकने के लिए एक गाँठ का होना और उसे तुड़वाना। (चौथी संधि)
 - (9) किसी देव का आकर राजा को भय-मुक्त करना। (चौथी संधि)
 - (10) जिन प्रतिमा का स्थिर होना। (पाँचवीं संधि)
 - (11) राजा के विलाप करने पर एक विद्याधर का प्रकट होना और परिचय देना। (पाँचवीं संधि)
 - (12) पूर्व-जन्म की कथा। (छठी संधि)
 - (13) पद्मावती-देवी की पूजा-अर्चना और वर पाना। (सातवीं संधि)
 - (14) करकंड-द्वारा दक्षिण के राजाओं के मुकुटों का पैरों से रौंदा जाना, पर उनके अग्रभाग में जिन-प्रतिमा को देखना और दुःखी होने पर वैराग्य लेना। (आठवीं संधि)
- (2) लोक-कहानियों में प्रयुक्त - ये कथानक-रूढ़ियाँ लोक-जीवन के विश्वास और व्यवहार पर आधृत होती हैं इस कारण से बड़ी रोचक एवं सरस होती हैं, यथा —

- (1) सगुन-विचार और पुत्र होना। (पहली संधि)
- (2) गर्भ धारण करने पर सोहला गवाना और रानी को दोहला होना। (पहली संधि)
- (3) उन्मत्त हाथी के सरोवर में उतरने पर रानी का तैरकर प्राण बचाना। (पहली संधि)
- (4) सूखे हुए उपवन में रानी के पहुँचने से उसका हरा-भरा होना। (पहली संधि)
- (5) उपवन के हरे-भरे होने का समाचार सुनकर माली का आगमन और उसे घर लिवा जाना। (पहली संधि)
- (6) माली की पत्नी का उसे देखकर ईर्ष्या से भर उठना। (पहली संधि)
- (7) श्मशान में पुत्रोत्पत्ति। (पहली संधि)
- (8) नर-कपाल की आँखों और मुख में से बाँस का विटप निकलना। (दूसरी संधि)
- (9) भविष्य-सूचना। (दूसरी संधि)
- (10) विद्याधर के घर डिंडिभी बजने से राक्षस द्वारा राजा की कन्या के अपहरण की सूचना। (दूसरी संधि)
- (11) जल-पूर्ण घड़ा हाथी की सूंड पर रखना और संभाव्य राजा पर उसका उँडेलना। (दूसरी संधि)
- (12) श्मशान के बीच बैठे कुमार पर जल उँडेलना। (दूसरी संधि)
- (13) तत्क्षण खेचर की विद्याएँ लौटना। (दूसरी संधि)
- (14) युद्ध-भूमि में पद्मावती का आना और पिता-पुत्र का परिचय कराना। (तीसरी संधि)
- (15) कर्म-वश सुवेग का हाथी बनना। (पाँचवीं संधि)
- (16) करकंड की सेना पर मदोन्मत्त हाथी द्वारा आक्रमण होना। (पाँचवीं संधि)
- (17) राजा का सामना करने पर हाथी का अदृश्य होना। (पाँचवीं संधि)
- (18) पूर्व-जन्म के अभिशाप से विषधर का हाथी होना। (पाँचवीं संधि)
- (19) साँप-मेंढ़क की लड़ाई देखकर कुमार द्वारा मांस का टुकड़ा डाला जाना और उन दोनों का मनुष्य बनना। (सातवीं संधि)
- (3) **प्रेमाख्यानों में प्रयुक्त-** इन कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग लौकिक प्रेमाख्यानों के कल्पना-प्रसूत प्रसंगों में उन्हें अधिक संभाव्य बनाने के लिए किया जाता है, यथा —
 - (1) गंगा की धार में एक पिटारी में रखी हुई कन्या को देखकर प्यार उत्पन्न होना। (पहली संधि)

- (2) रानी के दोहले को प्रत्यक्ष करना। (पहली संधि)
- (3) बरसाती परिवेश में राजा-रानी का हाथी पर सैर करना। (पहली संधि)
- (4) हाथी का उन्मत्त होना और राजा-रानी को जंगल की ओर ले भागना। (पहली संधि)
- (5) रानी के पहुँचने पर उजाड़ वन का हरा-भरा होना। (पहली संधि)
- (6) पहली पत्नी का दूसरी के साथ ईर्ष्या-भाव होना और उसे घर से निकालना। (पहली संधि)
- (7) मनुष्य के हाथ में ललित पट देखकर और उसमें सलक्षण रूप निहारकर मदन-विभोर होना। (तीसरी संधि)
- (8) खेचर द्वारा नंदनवन में करकंड-संबंधी गीतों का गाया जाना और मदनावती का मूर्च्छित होना। (तीसरी संधि)
- (9) मदनावती के अपहरण पर राजा का विलाप और तत्क्षण एक विद्याधर का प्रकट होना। (पाँचवीं संधि)
- (10) करकंड का सिंहल-द्वीप में रमण करते समय वट-वृक्ष के पत्तों को वाण से छेदना और रतिवेगा से विवाह। (सातवीं संधि)
- (11) समुद्र-मार्ग से लौटना तथा विशालकाय मत्स्य से युद्ध। (सातवीं संधि)
- (12) यानों का टकरा जाना और रतिवेगा का मूर्च्छित होना। (सातवीं संधि)
- (13) राजा के भटकने पर समुद्र में कनकलता के साथ तिलक-द्वीप में उसका विवाह होना। (सातवीं संधि)
- (14) उज्जैनी नगरी के मंत्री की घोड़ी को गर्भिणी होते हुए एक सुआ द्वारा देखा जाना। (आठवीं संधि)
- (15) एक ग्वाले का आना और सुआ द्वारा उसे नगर में ले जाकर राजा के हाथ बेचने की प्रार्थना करना। (आठवीं संधि)
- (16) राजा के आने पर सुआ का राजा को आशीर्वाद देना और आने का कारण पूछने पर एक कपट कहानी रचना। (आठवीं संधि)
- (17) सुआ ने पर्वत पर आकर घोड़ा-घोड़ी के सहवास की बात कही, जिससे बछेड़ा उत्पन्न हुआ। राजा का उस बछेड़ा को जाकर स्वयं लाना। (आठवीं संधि)
- (18) बछेड़े पर सुए के साथ राजा की यात्रा। मना करने पर भी राजा द्वारा चाबुक लगाना। (आठवीं संधि)

- (19) बछेड़े का आकाश में उड़ना। राजा को प्यास लगने पर समुद्र के पास आना। (आठवीं संधि)
- (20) समुद्र की अनेक कन्याओं में से रत्नलेखा के साथ सुए के कहने पर राजा का विवाह करना। (आठवीं संधि)
- (21) सुआ, घोड़ा, राजा-रानी चारों का सलिलयान से चलना; उसका एक द्वीपांतर से लगना, और रात हो जाना। (आठवीं संधि)
- (22) पहरा देकर रात गुजारना; परन्तु राजा के पहरे में चोरों द्वारा घोड़े-सहित सलिलयान का हर ले जाना। (आठवीं संधि)
- (23) सुए का लकड़ी काटकर नाव बनाने को कहना, तीनों का उस पर चढ़ना, परन्तु बंधन टूट जाने पर तीनों का बिछुड़ जाना। (आठवीं संधि)
- (24) सुए का पेड़ पर चढ़ना और राजा-रानी का अलग-अलग होकर अलग-अलग द्वीपों में पहुँचना। (आठवीं संधि)
- (25) अंत में तीनों का मिलना। (आठवीं संधि)

इस प्रकार और भी अन्य अनेक कथानक-रूढ़ियाँ इसमें प्रयुक्त हुई हैं। परन्तु, इन सभी को विभाजक रेखा खींचकर एक ही वर्ग के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता; वे परस्पर एक-दूसरे वर्ग में आ ही जाती हैं। लौकिक कहानियों की अनेक कथानक-रूढ़ियाँ प्रेमाख्यानों की रूढ़ियों में आ जाती हैं और धार्मिक-रूढ़ियों को लोक-विश्वास के कारण इन दोनों से पृथक् रखना संभव नहीं है। फिर भी, इनमें से कुछेक का हम विस्तृत निरूपण करेंगे और देखेंगे कि इनके प्रयोग से कथानक को कहाँ गति मिलती है और कहाँ रोचकता के साथ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई है। इसी में कथाकार की कला-कुशलता का परिचय मिलता है।

कथा के प्रारम्भ में ही चम्पानगरी का धाड़ीवाहन राजा कुसुमपुर जाने पर एक सुन्दरी कन्या को देखकर रीझ जाता है। पूछने पर ज्ञात होता है कि वह नगर के माली की पोषित कन्या है। माली संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाता है कि वह उसकी पत्नी को गंगा की धार में एक पिटारी में रखी हुई मिली, जिसमें स्वर्णमयी अँगुली की मोहर लगी थी और लिखा था कि यह राजदुहिता है तथा राजा वसुपाल की पद्मावती नाम की पुत्री है। राजा यह जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ और माली को प्रचुर धन देकर उसके साथ विवाह कर लिया (1.7.10) लौकिक प्रेम-कथाओं की यह प्रचलित कथा-रूढ़ि है। कभी-कभी लोक-निन्दा के भय से संतान को इस प्रकार पिटारी में रखकर नदी में बहा दिया जाता है अथवा पिटारी में ढक-दाबकर किसी के द्वार पर या अन्य स्थान पर जनशून्य वातावरण देखकर छोड़ दिया जाता है। ऐसे शिशु बहुधा बहुत सुन्दर देखे जाते हैं, और भाग्यशाली भी। कुन्ती ने कर्ण को लोक-लज्जा के भय से ही नदी में बहाया था और कबीर की माँ ने भी तालाब के किनारे छोड़ दिया था। इस प्रकार की घटनाएँ लोक-जीवन में होती रहती हैं और वहीं से लोक-कहानियों का प्रतिपाद्य बन जाती हैं। इससे कहानी में विशेष रोचकता का समावेश हो जाता है।

इसी प्रकार दूसरी संधि में जब पद्मावती श्मशान में पुत्र को जन्म देती है, तो एक मातंग तत्क्षण प्रकट होकर उसे अपने हाथ में ले लेता है। पद्मावती बहुत दुःखी होकर विलाप करती है। तब मातंग अपने पूर्व-जन्म की कथा कहता है और मुनि के शाप से त्राण पाने के लिए ऐसे बालक के पालन-पोषण की बात कहता है। ऐसा सुनकर पद्मावती के शोक का निस्तारण हो जाता है और वह मुनि के दर्शन से अर्जिका-व्रत ले लेती है और सहर्ष पुत्र के प्रति अपना प्यार प्रकट करती रहती है। बालक भी पढ़ता-लिखता और बड़ा होता है। इस प्रकार कहानी आगे बढ़ती है।

अब करकंड उस खेचर से क्षणभर के लिए भी दूर नहीं होता। उन्हीं दिनों दन्तीपुर के राजा की मृत्यु हो जाती है। किन्तु उसके कोई पुत्र न होने से राज-सिंहासन खाली ही रहता है। मंत्री के मन में स्फुरण होता है कि एक हाथी को पूजकर उसे जलपूर्ण घड़ा अर्पित किया जाय, जो कोई राज करने वाला हो उसके ऊपर इसे ढालेगा। हाथी चारों ओर भ्रमण करता हुआ नगर के बाहर श्मशान में पहुँचा और करकंड के सिर पर उसे डाल दिया। सबको बड़ा दुःख हुआ। किन्तु, तत्क्षण ही खेचर की मुनि-श्राप से लुप्त सभी विद्याएँ लौट आयीं और उसने बतलाया कि यह मातंग का पुत्र नहीं है। दिव्य देह राजकुमार है। विश्वास होने पर उसे राज-गद्दी पर बिठा दिया। इस कथानक-रूढ़ि के प्रयोग से भी कथा को गति मिलती है और जिज्ञासा होती है कि करकंड के राजा होने के बाद क्या हुआ क्योंकि यह एक ऐसा संभाव्य सत्य है जो असंभव दीख पड़ने पर भी लोक-जीवन के विश्वास से कटा नहीं है।

एक दिन राजा नगर-भ्रमण करते हुए ब्राह्मण के हाथ में पचरंगे सलक्षण रूप को देखकर मोहित होता है और वह ब्राह्मण उसका परिचय देता है। उधर मदनावली नंदनवन में सखियों के साथ खेलते समय खेचर के मधुर स्वर से करकंड की कीर्ति का गीत सुनकर मूर्च्छित हो जाती है। वह सखी को प्रेरित कर राजा के पास भेजती है। राजा आकर उसके साथ विवाह करता है (3.8.10)। उसी समय माता पद्मावती अकस्मात् आ जाती है और करकंड को आशीष देकर चली जाती है। अनेक लोक-कहानियों में बहुत दिनों बाद बिछुड़े हुए स्वजनों का मिलना देखा जाता है और इससे प्रकट होता है कि ऐसे अवसरों पर लोक एकबद्ध हो जाता रहा होगा। तभी चम्पाधिप का दूत आता है और उनके आधिपत्य को स्वीकार करने की कहता है। ऐसा सुनकर करकंड को क्रोध आ जाता है और दोनों में भयंकर युद्ध छिड़ जाता है। तभी युद्ध-भूमि में पद्मावती आ जाती है तथा करकंडु को बतलाती है कि ये तेरे पिता हैं। साथ ही संपूर्ण वृत्तांत कहती है। इस प्रकार युद्ध रुक जाता है और शत्रुता और वैमनस्य का स्थान मैत्री-भाव और वात्सल्य ले लेता है। इस प्रकार कथा एक क्षण विराम पाकर फिर बढ़ जाती है। (3.20.10)।

पट पर सलक्षण चित्र देखकर प्रेमोद्भव होना प्रेमाख्यानों की पुरातन कथा-रूढ़ि रही है। छठी संधि की मदनमंजूषा, रतिविभ्रमा, कनकमती और लीलावती के हृदय में भी इसी प्रकार चित्र देखकर नरवाहन के प्रति प्रेम स्फुरित होता है। इसके पश्चात् करकंड सिंहल द्वीप की यात्रा करता है जो पद्मिनी-नायिकाओं के लिए प्रसिद्ध है। प्रायः सभी प्रेमाख्यानों में सिंहल-द्वीप की

यात्रा का वर्णन रहता है। एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे विश्राम करते हुए करकंड उसके पत्तों को वाणों से छेद देता है। गुप्तचर राजा को सूचित करते हैं। राजा स्वयं उन्हें लिवाने आता है और नगर में भव्य स्वागत होता है। महल में आने पर रतिवेगा उसके रूप पर मुग्ध हो गई। राजा उसका विवाह करके अतुल संपत्ति देकर विदा करता है। जल-यात्रा करते समय एक विशालकाय मत्स्य से करकंड का युद्ध होता है। वह उसको मार भी देता है और तैरता-उछलता जल के ऊपर आता है। तभी एक खेचरी राजा को ले उड़ती है। सभी के मध्य उथल-पुथल मच गई, यान परस्पर टकरा गये, रतिवेगा विलाप करती हुई मूर्च्छित हो गई और होश में आने पर पद्मावती देवी का आह्वान किया, पूजा-अर्चना की। देवी प्रकट होती है और वरदान माँगने को कहती है। रतिवेगा अपने पति का कुशल समाचार जानने को उत्सुक है, वह समुद्र में डूब गया है। वह तुझे निर्दोष रूप में अवश्य मिलेगा। तू जिनवर का स्मरण कर। मुसीबत के दिनों में परा-शक्ति भी हमारी मदद करती है, उसी का स्मरण करना सार्थक है। यह भारतीय आख्यानों की चिर-पुरातन कथा-रूढ़ि है। अन्य लौकिक-प्रेमाख्यानों में शिव-पार्वती की कृपा और उनके साक्षात्कार से अथवा शिव-मठ में उनकी पूजा-अर्चना से प्रेमिका को प्रेमी की प्राप्ति होती है। परन्तु, यहाँ जैन-धर्म की प्रधानता से भगवान् जिन की पूजा और स्मरण पर बल दिया गया है। पर, लोक में प्रेम की सफलता में परा-शक्ति की कृपा का ही जादू होता है। कन्याएँ विवाह के पूर्व वांछित वर-प्राप्ति के लिए और विवाहोपरान्त पति की कुशलता के लिए शिव-पार्वती की पूजा किया करती हैं। इस धार्मिक कथा-रूढ़ि का प्रयोग इसी प्रयोजन से प्रायः किया जाता रहा है। लोक में यह आज भी प्रचलित है।

यहाँ सातवीं संधि के अंत में देवी के धर्मोपदेश के साथ कथा समाप्त हुई-सी लगती है³ पर, ऐसा नहीं होता। और देवी आठवीं संधि में वियोगियों के पुनर्मिलन-हेतु दृष्टांत देती है। एक राजा के मंत्री की घोड़ी नगर के बाहर चरने जाती है और गर्भिणी होती है एक चतुर सुआ इसे देखता है। तभी एक ग्वाला वहाँ आता है और सुआ कहता है—वह उसे नगर में ले जाकर राजा के हाथों में बेच दे (8.3.10) वह रास्ते में एक कुट्टिनी और सेठ के विवाद में अपने पांडित्य का परिचय देता है और सेठ को मुक्त कराता है (8.5.10)। फिर, राजा के पास आकर प्रथम उसे आशीर्वाद देता है। राजा के पूछने पर एक कहानी गढ़ता है और पूर्व में पर्वत पर गर्भिणी हुई घोड़ी के उत्पन्न हुए बछेड़े की बात कहता है। उसके कहने पर राजा स्वयं जाकर उसे बछेड़े को लाता है। पंडित सुए की वाणी में विश्वास होने से राजा सुए की हर बात का अनुसरण करता है। दोनों उस पर सवार होते हैं। राजा को चाबुक लगाने की मना करने पर भी वह लगाता है। बछेड़ा बहुत तेज दौड़ता है और आकाश में चला जाता है। राजा को प्यास लगती है और समुद्र-तट पर आ जाता है। वहाँ सैकड़ों कन्याओं को देखकर राजा मोहित होता है, परन्तु सुआ रत्नलेखा से विवाह की कहता है (8.10.5)।

राजा प्रचुर धन लेकर सुआ, घोड़े और रानी के साथ सलिलयान द्वारा प्रयाण करता है। रात्रि होने पर सभी ने पहरा देकर दिन के प्रकाश की प्रतीक्षा की। परन्तु, राजा के पहरे में चोर घोड़ा और सलिलयान को लेकर चले गये। सुए ने तुरन्त लकड़ी काटकर नाव बनाने को कहा ताकि

रत्नाकर को तर सकें (8.12.6)। परन्तु समुद्री लहरों से नौका टूट गई और राजा-रानी बिलुड गये। सुआ उड़कर एक पेड़ पर चला गया। फिर, पंडित सुए के प्रयास से राजा-रानी और घोड़ा सभी मिल गये। एक विद्याधर कन्या करकंड को लिवा लाई और रतिवेगा को अपना पति मिल गया। इस अवांतर कहानी से देवी के बचनों में आस्था उत्पन्न होती है। यह मोड़ वस्तुतः जैन-धर्म में आस्था और विश्वास के लिए ही दिया गया है। लेकिन कथा की रोचकता में इससे चार चाँद अवश्य लग गये हैं। यह मुनि कनकामर की कथा-योजना और शिल्प का ही भव्य चमत्कार है।

पण्डित-प्रवर सुए की कथानक-रूढ़ि का प्रयोग यों तो प्रेमाख्यानों में अनेक रूपों में मिलता है। लेकिन, यहाँ कथा को गति देनेवाले प्रेम-संबंध-घटक के रूप में और कथा के रहस्यों को खोलनेवाले भेदिया के रूप में ही हुआ है। अगर घोड़ी को गर्भिणी होते हुए सुआ न देखता तो कथा वहीं समाप्त हो जाती; परन्तु उस प्रसंग से कथा अग्रसर हुई और उसमें रोचकता का भी समावेश हुआ तथा इस मध्य जैन-धर्म के प्रचारार्थ भी देवी का साक्षात्कार और जिनवर के स्मरण में आस्था भी प्रकट हो जाती है। यह शुक भी मनुष्यों की बोली बोलता है और पंडित-विद्वान् की तरह राजा को आशीष भी देता है। पथ-प्रदर्शक के रूप में ढाँढस भी दिलाता है और मुसीबत के क्षणों में सूझ-बूझ से भी काम लेता है। भारतीय-साहित्य में ऐसे अनेक तोता-मैना, हंस-कपोत, मोर आदि पक्षियों का प्रयोग प्रेम-संबंध-घटक और संदेश-प्रेषण के लिए दूत के रूप में किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट होता है भारतीय-संस्कृति में मानव और मानवेतर सभी जीवों का परस्पर सह-भाव रहा है। भाषा तो सबकी अलग-अलग रही है परन्तु भावों की व्यंजना में कोई भेदभाव नहीं रहा है। प्रकृति सदैव से हमारी सहचरी रही है, विशेषतः तब जब हमारा मन भारी हो जाता है। इन्हीं चहचहाते जीवों के साथ हम हँसते-खेलते और अपने दुःख-दर्द को भूलते रहे हैं। जैन-मुनि तो इसी प्रकृति के मध्य रहते आये हैं अतः इसके मर्म से भली-भाँति परिचित रहे हैं, इन्हीं के मध्य उन्होंने जीवन के उत्सव को खूब हँस-खेलकर गुजारा है। इससे उन्हें सद्-प्ररेणा ही मिली है। इसका दोहन उन्होंने कभी नहीं किया। तभी तो उनकी इन कहानियों में एक जीवन्त शक्ति है, अभय-प्ररेणा है और दिव्य उपदेश है।

इसके पश्चात् करकण्ड द्रविड़ राजाओं पर विजय प्राप्त करता है और उनके मुकुटों को पैरों से रोंदता है; तभी उसे जिन-प्रतिमा के दर्शन होते हैं। इस घटना से वह बड़ा व्यथित होकर प्रायश्चित्त करता है। पुनः वह उस वन में पहुँचता है जहाँ मदनावली का हरण हुआ था। वहीं एक खेचर मदनावली को लाकर सौंपता है। खेचर एक विद्याधर था और अपने पूर्व-जन्म की संपूर्ण कहानी कहकर क्षमा-याचना करता है। राजा करकंड चम्पा-नगरी में आता है। तभी शीलगुप्त मुनि आते हैं और राजा वैराग्यपूर्वक दीक्षा ले लेता है।

एक बार राजा करकंड तेरापुर आता है और वहाँ के राजा से पर्वत पर सहस्रस्तंभ गुफा तथा बामी का समाचार पाता है। बस कथा बड़ी तीव्र गति से बढ़ने लगती है। यह सुनकर कि एक हाथी नित्य आता है और सरोवर से कमल लेकर उस बामी पर चढ़ाता है, उसे बड़ा आश्चर्य

हुआ। राजा वहाँ पहुँचा और देखा कि एक हाथी ने सूँड़ से जल चढ़ाकर, कमल अर्पित किया और प्रदक्षिणा करके चला गया (4.6.10)। राजा वहाँ फिर सरोवर के पास गया, सरोवर ने राजा का अभिवादन किया (4.7.8)। हिन्दी के मध्ययुगीन सूफी-प्रेमाख्यानों में भी (पद्मावत-जायसी) नायिका के पहुँचने पर मानसरोवर अपनी प्रसन्नता प्रकट करता है (मानसरोवर खंड)। और तुलसी के 'रामचरित-मानस' में भी श्रीराम के सेतु-बंधन के समय समुद्र उपहार लेकर उपस्थित होता है (लंकाकाण्ड)। राजा तुरन्त बामी को खुदवाता है। वहाँ एक सिंहासन और उसमें एक गाँठ निकली। राजा ने उसे भी तुड़वाया, फलतः एक तीव्र जलधार निकली, जिससे राजा बड़ा दुःखी हुआ कि मैंने इस धर्म-निलय को तुड़वाया। तभी एक देव प्रकट होता है और कहता है कि अब तक मैंने इसकी रक्षा की अब राजन्! तू कर। यह कहकर वह अंतर्धान हो जाता है। इस कथानक-रूढ़ि के प्रयोग से कथा में गति तो आती ही है, कहानी का रूप ही बदल जाता है। प्रारम्भ में जो कथा लौकिक कहानी की भाँति प्रारम्भ होकर बढ़ रही थी, वह अब धार्मिक कहानी बन जाती है। इस धार्मिक कथा रूढ़ि का यही प्रयोजन है। रोचकता का पुट तो स्वतः ही आ गया है। और इसी प्रसंग में कथाकार को अन्य पात्रों के पूर्व-जन्म की कथा कहने का अवसर मिल जाता है। तदुपरि मूल-कथा प्रेम-कहानियों की तरह बढ़ने लगती है।

इसी प्रकार प्रथम संधि के आठवें कड़वक में रानी पद्मावती रात में स्वप्न देखती है और राजा उसका शकुन-विचार करके पुत्र उत्पन्न होने की बात कहता है। राज्य में सौभाग्योत्सव (सोहला) मनाया जाता है। आज भी लोक में गर्भावस्था के अंतराल में सोहला मनाया जाता है। परन्तु तभी रानी को दोहला होता है। वह कहती है कि मैं बरसाती वातावरण में आपके साथ हाथी पर बैठकर पट्टन का भ्रमण करूँ। अगर यह इच्छा पूरी नहीं हुई तो मैं मर जाऊँगी। गर्भावस्था में प्रायः नारी की सभी इच्छाएँ पूरी की जाती हैं, ताकि संतान कुंठित न हो। इसमें उसके पति का विशेष योगदान रहता है। मनोवैज्ञानिक तथा लौकिक-दृष्टि से यह तथ्य बड़ा व्यावहारिक है। राजा इस कामना को पूरी करता है। वर्षा का मौसम न होने पर भी मेघकुमार देव का चिन्तन करने से जल-बिन्दुओं की वर्षा होने लगती है (1.11.8)। एक दीसिवान् हाथी पर सवार होकर दोनों चलने लगते हैं कि हाथी मदोन्मत्त होकर भागने लगता है (1.12.10)। यह देखकर रानी राजा के लिए चिंतित होती है और उसे प्रजा के लिए उतर जाने की कहती है। एक डाल से लगकर राजा कूद जाता है। 'राणएण तं सुणेवि, रुक्ख लंगि उल्ललेवि'। किन्तु, रानी को लेकर वह हाथी घनघोर जंगल में स्थित जलाशय में घुस जाता है। रानी तैरकर किनारे आकर एक उद्यान में पहुँचती है, जो उजाड़ पड़ा था। रानी का पैर पड़ते ही वह हरा-भरा हो जाता है और फलने-फूलने लगता है—

ता दिट्ठ उ उववणु ढंकरूक्ख
मयरहियु णीरसु णाडँ मुक्खु।
तहिं रुक्खहो तले वीसमइ जाम
पंदणवणु फुल्लिउ फलिउ ताम ॥ 2.14 ॥

यह समाचार मिलने पर माली आकर प्रसन्न होता है और उसे घर लिवा लाता है- 'तहो वयणु सुणेविणु सवणरम्मु, संचल्लिय कामिणि तासु हम्मु।' घर पर माली की पत्नी उसके रूप-सौन्दर्य को देखती रह जाती है। इसी बीच कवि नख-शिख-वर्णन का सुन्दर अवसर पाता है (1.16, 1-10)। मुनि कनकामर के इस नख-शिख-निरूपण के देखकर बरंबस आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है कि इनके कवि की रसिकता का मर्म निसंदेह बड़ा रहस्यमय है। नूतन उपमानों की नियोजना और उनके सहारे, गत्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि सचमुच इन वीतरागी महात्माओं की काव्य को अनूठी देन है। लोकानुभूतिका ऐसा मधुर संस्पर्श सचमुच अपभ्रंश-काल की अपनी अनूठी-अछूती विशेषता है। हेमचन्द्राचार्य के दोहों में भी यह लावण्य, बारीकी और चित्रात्मकता नहीं है।

बस, पद्मावती के इसी अप्रतिहत सौन्दर्य के कारण माली की पत्नी को ईर्ष्या हो जाती है- 'ता कलहु करेविणु मइँ मेल्लेविणु णिच्छउ माणइ एह; पुणु'। और दोष देकर उसे घर से निकाल देती है- 'दोसु देवि यल्लियाइँ'। सपत्नी-दाह की यह कथानक-रूढ़ि प्रेमाख्यानों और लौकिक-कहानियों में बहुधा प्रयुक्त होती है। लोक में वैसे भी यह कहावत प्रसिद्ध है- 'सौत चून की भी बुरी'। परन्तु जिसके प्रति ईर्ष्या होती है, उस नारी में संयम और धैर्य देखा जाता है, जिससे उसका भविष्य उज्ज्वल ही निकलता है। हिन्दी के सूफी-प्रेमाख्यानों में इस कथा-रूढ़ि का बहुत प्रयोग हुआ है। अनेक पौराणिक कथाओं में भी इसका उल्लेख है। पद्मावती इस प्रकार घर से निकलकर श्मशान में पहुँचती है। तुरंत कवि उसके नारीत्व की परीक्षा के लिए श्मशान के भयंकर परिवेश का वर्णन करता है (1.17, 5-9)। वहीं श्मशान में रानी एक पुत्र को जन्म देती है और तत्काल एक मातंग आकर पुत्र को अपनी क्रीड में ले लेता है। रानी रुदन करती है, परंतु वह अपने शाप के निस्तारण के लिए ऐसा करता है और पूर्व-जन्म की कथा सुनाता है। रानी यह सुनकर शांत होती है (2.2-4.10)। वही मातंग पुत्र का पालन करता है और कथा आगे बढ़ती है। कथाकार अनेक नीतिपरक कहानियों को कहकर उसे ढाँढस बँधाता है।

इस प्रकार कहीं कथा के प्रवाह में बाधा होने पर ये कथानक-रूढ़ियाँ उसे सहजता-सरसता के साथ गतिशील करती हैं, कहीं कथा में पूर्ण विराम आता हुआ देखकर कथा को नूतन प्रसंग की उद्भावना के साथ आगे बढ़ाती हैं। कहीं रोचकता की सृष्टिकर कथा को अधिक रम्य बना देती हैं। कहीं पूर्व-जन्म की कथाओं के सहारे मूल-कथा के प्रसंगों को जोड़कर उन्हें बल प्रदान करती हैं। कहीं मानवेतर जीवों की धार्मिक-भावना से मनुष्य को धर्म-परायण होने या बनने का मार्ग प्रशस्त करती हैं। कहीं सत्संगति के लाभ से अवगत करारकर कुसंगति से बचने की प्रेरणा देती हैं। और कहीं लौकिक-अलौकिक जीवन के असाध्य रहस्यों को खोलती हैं; कहीं कथा-संघटन में विशेष मोड़ देकर घटना को प्रयोजन-सिद्धि के लिए उपयुक्त बनाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है इन भिन्न-भिन्न कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग से मुनि कनकामर के 'करकंडचरिउ' में उसके कथा-संगठन, वस्तु-निरूपण, मौलिक प्रसंगोद्भावना, शिल्प एवं

प्रयोजन-सिद्धि आदि में जो कलात्मक-सौन्दर्य और काव्य का औदात्य उभरकर आया है वह अनूठा और अन्यतम है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किस कथानक-रूढ़ि का कहाँ, कब और कैसे प्रयोग होना है, इस कला में वह पूर्ण पारंगत है, निष्णात है। तभी इतनी अधिक और अनेक प्रकार की रूढ़ियों का प्रयोग वह सफलता के साथ कर सका है। यह ठीक है कि इनकी अति भी अनेक स्थलों पर खटकती है। परन्तु कथा को बढ़ाने और धार्मिक-प्रयोजन की सफलता के लिए उसकी यह विवशता भी है। अनेक अवांतर कथाओं का प्रयोग अनेक पात्रों की पूर्व-जन्म की कथाओं का नियोजन-निरूपण भी इसीलिए किया गया प्रतीत होता है। फिर, संपूर्ण कथा इन्हीं कथानक-रूढ़ियों के सहारे निर्मित होती है, बढ़ती है और समाप्त होती है। इस प्रकार प्रस्तुत प्रबंध कथानक-रूढ़ियों के प्रयोग और उनके सौन्दर्य की दृष्टि से अनूठा और अतुलनीय है। इसके रचयिता की कला-पटुता एवं सौन्दर्य की सूक्ष्म-दृष्टि का सहज परिचय इसमें मिलता है। लोक-जीवन की गहन अनुभूति का भव्य आकर्षण इसकी सरल, सहज और सरस अभिव्यक्ति में अतर्निहित है। परन्तु वह भी जैसे इन्हीं कथानक-रूढ़ियों में सिमट गया है।

1. हिन्दी के आदिकालीन रास और रासक काव्य-रूप - डॉ. त्रिलोकी नाथ 'प्रेमी', पृ. 123।
2. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 80।
3. ता सोउ णिवारिवि करहि धम्म, करकंडु मिलेसइ गलियछम्म,
अइतुरिउ लएविणु पउरदव्वु, अणवरणु देहि तुहुँ दाणु भव्वु।
पडिवयणु भडारी तहे भणइ महो वयणहो संसउ कि करहि।
कणयामरतेयसमगलउ सो अणुदिणु जिणवरू संभरहि ॥ 7.16.10
- करकंडचरिउ-संपा. डॉ. हीरालाल जैन, पृ. 102
4. वरिसंतइँ जलहरे मंदगंदे, णररूउ करेविणु णियगइंदे।
- करकण्डचरिउ, संपा. हीरालाल जैन, 1.10.8, पृ. 8

49-बी, आलोक नगर
आगरा - 282010

जंबूसामिचरिउ में अनुभाव योजना

— डॉ. (कु.) आराधना जैन 'स्वतंत्र'



रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्तव्य-अकर्तव्य का उपदेश हृदयंगम कराया जा सकता है। इसलिए कान्तासम्मित उपदेश को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। महाकवि वीर इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थे। उन्होंने अपने काव्य में शृंगार से शान्त तक सभी रसों की मनोहारी व्यंजना की है।

रस को व्यंजित करने की कला कवि के काव्य-कौशल की कसौटी है। रससिद्ध कवि वही माना जाता है जिसका रस-सामग्री-संयोजन अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भावों का विन्यास सटीक, स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक हो। इसके लिए कवि को विभावादि का सूक्ष्म अध्ययन आवश्यक है और आवश्यक है उचित पात्र में उचित स्थान तथा उचित समय पर इन्हें प्रयुक्त करने की सूझबूझ। वीर कवि में ये सभी गुण उपलब्ध होते हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव रस के उपादान हैं। क्योंकि इन तीनों के दर्शन होने पर सहृदय सामाजिक को पात्रों में जागे रति, हास, शोक आदि स्थायी भावों का बोध होता है और उससे उसका स्वकीय रति आदि स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर रसानुभूति में परिणत हो जाता है।

वास्तविक जीवन में जिन पदार्थों के निमित्त से मनुष्य के मन में सोये काम, क्रोध, भय, शोक आदि भाव जाग उठते हैं वे काव्य-नाट्य में प्रदर्शित होने पर विभाव कहलाते हैं और जिन

वाचिक एवं आंगिक चेष्टाओं से भीतर जागे ये भाव बाहर प्रकट होते हैं उन्हें काव्य-नाट्य में अनुभाव कहते हैं।¹ इनकी अनुभाव संज्ञा इसलिए है कि ये विभावों द्वारा रसास्वाद रूप में अंकुरित किये गये सामाजिक के रत्यादि स्थायी भाव को रस-रूप में परिणत करने का अनुभवन व्यापार करते हैं।²

अनुभावों की चार श्रेणियाँ हैं —

1. चित्तरम्भक, जैसे - हाव, भाव आदि,
2. गात्रारम्भक, जैसे - लीला, विलास, विच्छित्ति आदि,
3. वागारम्भक, जैसे - आलाप, विलाप, संताप आदि तथा
4. बुद्ध्यारम्भक, जैसे - रीति, वृत्ति आदि।³

अनुभाव मन के रहस्य को उद्घाटित करते हैं, जैसे-किसी युवक और युवती के मन में एक-दूसरे को देखकर प्रेम उत्पन्न होता है। तो पहले वे एक-दूसरे को एकटक देखते हैं, फिर चोरी-चोरी देखते हैं, मुड़-मुड़कर देखते हैं, मुस्कराते हैं, युवती आँखें झुका लेती है, मुँह फेर लेती है, पैर के अंगूठे से धरती कुरेदने लगती है, आँचल या बालों की लटों को सँभालने लगती है, प्रेम को छिपाने के लिए युवक के पास से दूर जाने की चेष्टा करती है, किन्तु कोई बहाना बना कर रुक जाती है, उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में शकुन्तला दुष्यन्त को यह जताने के लिए कि वह उसकी तरफ आकृष्ट नहीं है, दुष्यन्त के पास से दूर जाने का उपक्रम करती है, किन्तु दो-चार कदम चल कर ही कांटे चुभने का बहाना बना कर रुक जाती है और मुड़-मुड़कर दुष्यन्त को देखने लगती है। इसके बाद पुनः जाने लगती है, किन्तु थोड़ी दूर जा कर पुनः झाड़ियों में दुपट्टा उलझने का बहाना बना कर रुक जाती है और दुपट्टा सुलझाने के छल से दुष्यन्त से आँखें चार करने लगती है।⁴ इसी प्रकार (प्रेमानुरक्त) युवक और युवती किसी अन्य को संबोधित कर अपने मन का अभिप्राय प्रकट करते हैं, फिर कुछ निकट आने पर प्रेमालाप करते हैं, युवक युवती के सौन्दर्य की प्रशंसा करता है, इसके बाद वे एक-दूसरे को प्रेम-संदेश भेजते हैं, प्रेम-पत्र लिखते हैं, किताबों में रखकर भिजवाते हैं, इन चेष्टाओं से दूसरों को उनके प्रेम का पता चल जाता है। कवि इन चेष्टाओं को दर्शाकर ही नायक-नायिकादि के प्रेम आदि भावों को प्रदर्शित करता है। काव्य में निबद्ध होने पर ये अनुभाव कहलाते हैं। इन्हीं अनुभावों को ध्यान में रखकर कहा गया है "इश्क और मुश्क छिपाये नहीं छिपते"।⁵ रहीम ने भी कहा है-

खैर खून खांसी खुशी, बैर प्रीति अभिमान।

रहीमन दाबे न दबै, जानत सकल जहान॥

मुख की आकृति ही मन के भावों को अभिव्यक्त कर देती है। जंबूसामि चरित में कवि ने अनुभाव योजना द्वारा पात्रों के रत्यादि भावों को अनुभूतिगम्य बनाया है। यहाँ इन्हीं अनुभावों पर बिचार किया जा रहा है।

शृंगार रस के अनुभाव

ऊपर शृंगार रस के अनुभावों का वर्णन किया जा चुका है, इनका प्रयोग कवि ने जंबूसामि चरित में नायक-नायिका के रूप-वर्णन और मिलन के प्रसंग में किया है। बंसत ऋतु के आगमन पर नागरिकों के युगल की उद्यान-क्रीड़ा का चित्रण देखिए -

कोई मुग्धा अपने (प्रणय) कार्य के लोभी धूर्त से प्रणय क्रुद्ध होकर मुँह फेर लेती है। (तब वह कहता है) तुम्हारे मुँख से शतपत्र (कमल) की भाँति करके झपटती हुई भ्रमर-पंक्ति को देखो। यह सुनते ही भग्नमान होकर वह दयिता तुरन्त (प्रेमी के) कंठ से लग जाती है। कोई (नायक) मुग्धा की प्रशंसा करता है- तुम्हारे सुन्दर नेत्रों में नीलोत्पल की शंका करके भ्रमर झपट रहे हैं, इस बहाने से नेत्रों को झाँप कर नव वधू का मुख चूम लेता है। कोई नायक एक बाला से कहता है- मैं अपने तिलक से तुझे तिलक लगाऊँगा और अपना मस्तक प्रिया के मस्तक पर रखकर उसे छल कर कपोलों पर नखचिह्न बनाता हुआ कांता के अधरों को दाँतों से काट लेता है। किसी ने कहा - हे दीर्घनयना! तूने (निष्कलंक) मुख पर कस्तूरी का तिलक लगाकर उसे चन्द्रमा के समान (सकलंक) क्यों कर लिया? किसी स्त्री के प्रिय ने कहा - यह तो सारा (प्रपंच) महिलाकृत है। उस उद्यान में कामिनियों के काम को बढ़ाते हुए जंबूकुमार किसी कामिनी से कहने लगे - हंसों ने तुझसे गमन का अभ्यास किया, कलकंठी ने तुमसे कोमल आलाप करना जाना, कमलों ने तुमसे चरणों से नाचना सीखा, तरुपल्लवों ने तुम्हारी हथेलियों का विलास सीखा और बैलों ने तुम्हारी भौहों से बांकापन सीखा। इस प्रकार ये सब तुम्हारे शिष्य भाव को प्राप्त हुए हैं।⁷

यहाँ पर प्रेमोन्मत्त नायक-नायिका की प्रवृत्तियाँ - मुख, कपोल, अधरों का पारस्परिक चुंबन, आलिंगन, नखच्छेद, नायिका-प्रशंसा आदि - सभी शृंगार रस के अनुभाव हैं, जो उनके हृदयगत अनुराग को अभिव्यक्त करते हैं।

उद्यान क्रीड़ा के अनन्तर जलक्रीड़ा के प्रसंग में प्रेमी युगल की सुरतावस्था का मनोरम चित्रण हुआ है। इसमें नारी के आंगिक सौन्दर्य का सूक्ष्म चित्रण, रमणी की कटिवस्त्र संभालने, कम्पनशील नितम्ब को स्थिर करने की चेष्टा रूप⁸ अनुभावों का रमणीय उपमा और उत्प्रेक्षामय वर्णन हुआ है जो उनके रतिभाव और प्रेम की उत्कटता का द्योतक है।

जंबूकुमार की होनेवाली वधुओं चार श्रेष्ठि कन्याओं के उपमा, उत्प्रेक्षा से लदे नख-शिख वर्णन (4.13), विवाहोपरान्त पद्मश्री आदि नव वधुओं की काम चेष्टाओं (8.16), वेश्यावाट के चित्रण (9.12) में रमणीय और मादक अनुभावों की संयोजना हुई है, जो उनके रतिभाव को दर्शाने में पूर्णरूपेण समर्थ हैं।

जब भवदेव को अपने गृहस्थ जीवन के अग्रज किन्तु अब विरक्त मुनि भवदत्त के दर्शन करने का सौभाग्य मिलता है, तब उनकी प्रेरणा से वह मुनि बन उनके ही संघ में सम्मिलित हो जाता है, पर अपनी नवविवाहिता पत्नी के आकर्षण को और अतृप्त भोगेच्छाओं को विस्मृत नहीं कर पाता। वह निरंतर मन में भार्या के यौवन, शारीरिक सौन्दर्य के चिंतन में मग्न रहता

है। तन-मन में स्थापित लिखित, उत्कीर्ण भार्या का सौन्दर्य उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो देव ने हृदय में रखकर बहुत गहरी कील ठोक दी हो। नील कमलवत कोमल श्यामलांगी, नवयौवन की लीला से ललित एवं पतली देहयष्टिवाली वधू के स्मरण में वह अपनी पीड़ा को भूलकर कहता है - अपनी रूपऋद्धि से मन को हरनेवाली मुग्धे। शोक है कि तू मेरे बिना काम से पीड़ित हुई होगी-

नीलकमलदल कोमलिए सामलिए, नवजोव्वणलीलाललिए पत्तलिए।

रूवरिद्धिमणहारिणिए मारिणिए, हा मड़विरणुमयणे नडिए मुद्धडिए॥ 2.15.3-4

बारह वर्ष बाद अपने गृहस्थ-जीवन के ग्राम में आगमन, आहारोपरान्त एकाकी प्रस्थान का सुअवसर, सुरतक्रीड़ा के आकर्षण की कल्पना, विषयसुख भोगने की तीव्र लालसायुक्त मुनि भवदेव का शीघ्रता से जाना, स्वगत कहना - मैं अपने मन को अपनी धन्या से प्रसन्न करूंगा, उक्कंठापूर्वक प्रगाढ़ आलिंगन करूंगा, नखचिहनों से स्तनमंडल को मंडित करूंगा, अधरबिंब को दांतों से काटूंगा।⁹ गाँव के बाहर जिनालय में स्थित क्षीणकाय नारी से अपनी पूर्व पत्नी नागवसू की जानकारी प्राप्त करना¹⁰ आदि उसके कामातुर व्यक्ति के विरह को चित्रित करते हैं।

विरहाग्नि संतप्त मुनि भवदेव का शीघ्रता से प्रस्थान, उसके हृदय के उद्गार, उसके रति भाव को जगा कर विप्रलंभ शृंगार का बोध कराते हैं।

हास्य रस के अनुभाव

विचित्र वेशभूषा धारण करना, उल्टे-सीधे आभूषण पहन लेना, उल्टी-सीधी बातें करना, असंगत कार्य करना, विचित्र मुख-मुद्राएं बनाना आदि हास्य रस के विभाव हैं।¹¹ इन कार्यों को करनेवाला जब स्वयं अपने आप पर हँसता है अथवा इन्हें देखकर अन्य पात्र हँसते हैं तब वह हँसना हास्यरस का अनुभाव होता है।¹² हँसना छह प्रकार का होता है-उत्तम प्रकृति के लोग जिस प्रकार हँसते हैं उसे स्मित और हसित कहते हैं। मध्यम प्रकृति के लोगों के हँसने की शैली का नाम विहसित और उपहसित है तथा अधम प्रकृति के लोगों के हँसने का तरीका अपहसित और अतिहसित कहलाता है।¹³

जिस हँसी में गाल कुछ खिल जाते हैं, दृष्टि में शालीनता रहती है तथा दाँत दिखाई नहीं देते उस संयत हँसी को स्मित हास्य कहते हैं।¹⁴ जिसमें मुख और नेत्र खुल जाते हैं, गाल और अधिक विकसित हो जाते हैं तथा दाँत कुछ दिखलाई देने लगते हैं उस हँसी का नाम हसित है।¹⁵ जिस हंसी में आँखें और गाल सिकुड़ जाते हैं, मुँह लाल हो जाता है तथा मुँह से खिलखिलाहट निकल पड़ती है ऐसी उचित समय पर होनेवाली मधुर हँसी विहसित कहलाती है।¹⁶ जिसमें नाक फूल जाती है, मनुष्य टेढ़ी दृष्टि से देखने लगता है, अंग और सिर झुक जाते हैं तथा मुँह से कहकहे फूट पड़ते हैं उस हँसी का नाम उपहसित है।¹⁷ जो हँसी अनुचित अवसर पर उत्पन्न होती है जिसमें आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं। कन्धे और सिर हिलने लगते हैं और मनुष्य ठहाका लगाने लगता है वह अधम प्रकृति के लोगों की हँसी अपहसित कहलाती है।¹⁸

जिस हँसी में मनुष्य अट्टाहास करने लगता है, आँखों में आँसू आ जाते हैं, पसलियों को दबा कर जोर-जोर से लगातार हँसता है और जिसका स्वर सुनने में बुरा लगता है, अधम पुरुषों के उस हास्य को अतिहसित कहते हैं।

जंबूसामि चरित में हास्य रस की सामग्री अल्प है। जब जंबूकुमार भ्रमणार्थ निकलते हैं तब उन्हें देखने के लिए नारियाँ इतनी उतावली हो जाती हैं कि वे जल्दी-जल्दी में उल्टा-सीधा शृंगार कर लेती हैं। कोई स्त्री जो बाहुओं में कंचुकी पहन चुकी थी वह उसे कंठ में नहीं पहन पायी। कोई उतावलेपन के कारण गले में हार न पहन सकी और अपने विशाल नेत्र को अधूरा अंजन लगा पाई। कोई एक वलय को हाथ में पहनती हुई केशपाश को लहराती हुई, कांपती हुई मंडनकर्म को पूरा नहीं करती हैं।²⁰

नारियों का यह शृंगार विपर्यय हास्य रस की व्यंजना का हेतु बन पड़ा है किन्तु यहाँ मात्र विभावों का ही वर्णन है।

वीररस के अनुभाव

काव्य/नाट्य के पात्रों में दान, दया, धर्म और युद्ध के लिए जो उत्साह दिखलाया जाता है²¹ उससे सामाजिक का उत्साह उद्बुद्ध होकर वीररस में परिणत हो जाता है। काव्य/नाट्य में उत्साह का प्रदर्शन, दृढ़ता, धैर्य, शौर्य, गर्व, उत्साह, पराक्रम, प्रभाव, आक्षेप वाक्य (शत्रु को कायर आदि बतलानेवाले वचन) त्याग आदि अनुभावों के द्वारा किया जाता है।²²

गगनगति विद्याधर अपने प्रवासकाल के बीच में राजगृही के राजा की सभा में अपने शत्रु रत्नशेखर विद्याधर के शौर्य, शक्ति और आतंक तथा परिमित साधनवाले अपने बहनोई राजा मृगांक पर आयी आपत्ति को बतलाता है तथा अकेले ही क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए रण में मरने की बात कहता है, तब राजा उन्हें रोककर सान्त्वना देता है और जंबूकुमार की वीरता को दर्शाता है।

यह सब बोलने से क्या? यह अकेला ही बालक समर्थ यम के लिए भी यम होने में समर्थ है। सूर्य के लिए भी (सूर्य के तेज को अपने तेज से पराभूत करनेवाला) सूर्य है और आकाश में क्रूर राहू के लिए भी क्रूर है। यह स्वर्गस्थ शक्र का भी शक्र और पक्षिराज (गरुड़) के लिए भी (सुदर्शन) चक्र के समान है। यह शेष (नाग) के सिर पर हाथ से ताड़न करनेवाला तथा उसके फणामंडल से मणि को छुड़ा लेनेवाला है। इसके प्रताप से दग्ध होकर अग्नि भी शीतल होकर भस्मराशि मात्र रह जाता है, इस बालक के खड्ग ग्रहण करने पर शत्रु अपना समय पूरा होने से पहले ही मृत्यु को प्राप्त होता है।²³

यहाँ जंबूकुमार की वीरता को संकेतित करनेवाले ये वाक्य अनुभाव हैं जो उसके पराक्रम, शौर्य की अनुभूति कराते हैं।

रत्नशेखर विद्याधर जब माया युद्ध में राजा मृगांक को पराजित कर बंदी बना लेता है तब गगनगति विद्याधर जंबूकुमार से कहता है - तुम ही उसका (मृगांक का) उद्धार करो! हे बांधव!

तुम जैसा समझो वैसा करो (क्योंकि) सिंह तभी तक दहाड़ते हैं, जब तक कि शरभ को नहीं देखते। पत्नी के सामने बहादुरी का बखान करनेवाले लोग अधिक हैं पर सुभट के कार्य को सम्पन्न करनेवाले निश्चय ही विरल हैं। दूसरे के कार्य-भार को निज कंधों पर धारण करनेवाले तो इस जगत में दो-तीन या आप अकेले ही हैं।²⁴

गगनगति का उक्त कथन युद्ध के लिए उद्यत वीर जंबूकुमार के उत्साहवर्धन के लिए पूर्णरूपेण सक्षम है। गगनगति के उक्त कथन को सुनकर जंबूकुमार रोषपूर्वक हाथ में तलवार उठाकर उसे यह कहते हुए धैर्य बंधाता है- काल के ग्रास (मुख) में आने पर कौन जा सकता है? देवताओं के हाथी (ऐरावत) के दाँतों से कौन झूल सकता है? यम के तुलादंड में अपने को कौन तौल सकता है? आक्रमण किये हुए सिंह के साथ कौन क्रीड़ा कर सकता है? विषफल को अपने मुँह में कौन चबा सकता है? हरि के नाभिकमल को कौन तोड़ सकता है? (और) मृगांक को बंदीगृह में रखकर मुझसे युद्ध करके निमेषमात्र भी कौन जी सकता है?²⁵

जंबूकुमार के जोशीले वचनों की गर्जना और पराक्रम का प्रभाव ऐसे सशक्त अनुभाव हैं जो एक ओर तो गगनगति की छिन्न-भिन्न सेना को एकत्र करते हैं, उसके निष्प्राण उत्साह को उदीप्त और पुनरुज्जीवित करते हैं तथा दूसरी ओर अपने विपक्षी रत्नशेखर को पुनः युद्धस्थल में वापिस लौटाते हैं।

इस प्रकार यहाँ दृढ़ता, धैर्य, शौर्य, गर्व, पराक्रम, प्रभाव, निर्भयता आदि अनुभाव सामाजिक के उत्साह स्थायी भाव को उद्बुद्ध कर उन्हें वीररस के सागर में निमग्न कर देते हैं।

रौद्ररस के अनुभाव

काव्य/नाट्यगत पात्रों को क्रोध से प्रज्वलित देखकर सामाजिक का क्रोध उद्वेलित हो जाता है, तब उसे रौद्ररस की अनुभूति होती है। पात्रों का क्रोध नेत्रों के लाल होने, भ्रुकुटी चढ़ाने, दाँतों को पीसने, होठों को चबाने, गालों को फड़काने, मुट्ठियाँ बाँधने, आक्षेप वचन कहने तथा क्रोध के कारणभूत व्यक्ति को मारने-पीटने, प्रहार करने आदि से दिखाई देता है।²⁶ अतः ये रौद्ररस के अनुभाव हैं।

रत्नशेखर की क्रोधोत्तप्त दशा की सफल अभिव्यंजना के लिए कवि ने इन अनुभावों का प्रयोग किया है। जंबूकुमार रत्नशेखर की सभा में दूत बनकर जाते हैं और उससे पहले न्यायोचित हित की बात कहते हैं फिर दर्पपूर्ण वचन। उसे सुनकर रत्नशेखर की मनःस्थिति रोषपूर्ण हो जाती है- 'जंबूकुमार के वचन सुनते ही खेचर अधिकाधिक रोष से काँपने लगा, (क्रोध के आवेग से) उसका कंठ स्तब्ध हो गया, शिरा-जाल प्रदीप्त हो उठा, विशाल कपोल प्रस्वेद से सिक्त हो गये। ओठों को काटते हुए गुँजा के समान उज्ज्वल (चमकीले) दाँत तथा फड़कते हुए नासापट से भयानक दिखने लगा।'²⁷

यहाँ पर शरीर का काँपना, कंठ का स्तब्ध होना, शिराजाल का प्रदीप्त होना, दाँतों से अधर काटना, आरक्त नेत्र आदि से ऐसे सटीक अनुभाव हैं जो रत्नशेखर के क्रोध की बर्बरता प्रदर्शित करते हैं। ये सामाजिक के क्रोध-भाव को उद्बुद्ध कर रौद्ररस की हृदयस्पर्शी अनुभूति कराते हैं।

भयानक रस के अनुभाव

भयानक रस वीर और रौद्र रसों का पोषक है। शत्रुओं, कायरों का इधर-उधर बिखर जाना, पलायन करना आदि इस रस के अनुभाव हैं।

काव्य में युद्धवर्णन के प्रसंग में इन अनुभावों का सटीक प्रयोग युद्ध-स्थल की भयानकता को दर्शाता है- 'रणस्थल में कोई भट अपने शरीर को पसारे पड़ा था, जिसके अवयव मुद्गर के प्रहार से आहत होने पर भी विकृत नहीं हुए थे। उसके सुदृढ़ लकुटियुक्त हाथ को देखकर काक-समूह पास में नहीं आता था। कोई भट आँखों को भयानकता से फाड़े हुए पड़ा था। उसे जीवित समझकर सियार भयभीत हो रहा था।' ²⁸

काक का समीप न आना, सियार का भयभीत होना आदि अनुभाव युद्धक्षेत्र की भयानकता को बतलाकर भयानक रस की अनुभूति कराते हैं।

युद्धक्षेत्र में शोणित नदी, छत्र का तैरना, शृगाल, चील, गिद्ध, कौओं का मंडराना, मांसपिण्डों पर मक्खियों का भिनभिनाना, हाड़ों व धड़ों से युक्त विस्तृत भूमि²⁹ आदि का वर्णन भी मन में भयानकता, वितृष्णा और ग्लानि को जागृत करने में सक्षम है।

वीभत्स रस के अनुभाव

अप्रिय, अपवित्र और अनिष्ट वस्तु को देखने-सुनने से मन में जुगुप्सा या अरुचि-सी होती है। अतः ये वीभत्स रस के विभाव हैं तथा पात्रों को आँखें बंद करने, नाक-भौं सिकोड़ने, थूकने आदि से उसका बोध होता है अतः ये अनुभाव हैं।³⁰

काव्य में संसार, शरीर, भोगों से अरुचि जगानेवाले वीभत्स रस का प्रयोग हुआ है जो वैराग्योत्पादक है पर उसमें अनुभाव अव्यक्त है। विवाहोपरान्त रात्रि में जंबूकुमार विद्युच्चर की कथा के प्रत्युत्तर में वैराग्य कथा सुनाता है।

बनारस नगरी का राजा युद्धार्थ जाता है। उसके अभाव में विरहाग्नि को शान्त करने के लिए रानी विभ्रमा अपनी दासी से सौन्दर्यशाली युवक चंग (सुनार-पुत्र) को बुलवाती है। संयोग से उसी समय विजयी होकर राजा वापिस आ जाता है तब रानी चंग को बाहर निकालने के सारे मार्ग अवरुद्ध जानकर भयभीत हो उसे अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त पुरीषकूप (विष्टाकूप) में डाल देती है।³¹

यहाँ दुर्गन्धयुक्त विष्टा विभाव है, आँख-नाक बन्द करना अव्यक्त अनुभाव है। यह जुगुप्सा स्थायी भाव जगाकर वीभत्स रस की अनुभूति कराता है।

भीषण युद्ध के परिणामस्वरूप वहाँ का परिदृश्य (6.8.6-8, 6.9.8-9) भी ग्लानि उत्पन्न करता है पर वहाँ भी अनुभाव व्यक्त नहीं हुए हैं।

करुण रस के अनुभाव

प्रियजन, प्रियवस्तु का वियोग होने पर छाती पीटना, रुदन करना आदि करुणरस के अनुभाव हैं। वीर कवि ने इन अनुभावों के प्रयोग द्वारा प्रसंग को अत्यन्त मर्मस्पर्शी बनाया है। भवदत्त एवं

भवदेव के पिता अपनी व्याधि से व्याकुल हो, जीने के आशा छूट जाने से स्वयं चिता रच कर अग्नि में प्रविष्ट होकर मरण को प्राप्त होते हैं। यह देख उनकी माता भी उसी चिताग्नि में प्रवेश कर अपनी देह त्याग कर देती है। दोनों का मरण देखकर वे बालक हा कष्ट - हा कष्ट! कहते हुए जोर-जोर से छाती पीट-पीट कर रोते हैं।³²

माता-पिता के एकसाथ वियोग से दुःखी होकर बालकों का बार-बार छाती पीटना, करुणाजनक रुदन करना, करुण रस के सशक्त अनुभाव हैं। ये शोक स्थायी भाव को जगाकर सहृदय को मर्मस्पर्शी करुण रस के सागर में निमग्न कर देते हैं।

शान्त रस का अनुभाव

जंबूसामि चरिउ का अंगीरस शान्त रस है। भरत मुनि ने शान्त रस का लक्षण इसे प्रकार बतलाया है —

अथ शान्तो नाम शम स्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः ।

अर्थात् आस्वाद्य अवस्था को प्राप्त शम स्थायी भाव शान्त रस कहलाता है।

इसको और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

यत्र न दुःखं न सुखं द्वेषो नापि मत्सरः ।

समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥

(नाट्य शास्त्र, षष्ठ अध्याय)

सहृदय सामाजिक के मन में उद्बुद्ध 'शम' स्थायी भाव का प्रकाशन निम्नलिखित अनुभावों के द्वारा होता है - विषयों में अरुचि, शत्रु - मित्र, सुख-दुःख आदि में समभाव, सांसारिक व्यापारों से निवृत्ति, देव-शास्त्र-गुरु में भक्ति, धर्म श्रवण, स्वाध्याय, अनित्यत्व आदि में प्रवृत्ति।³³

आद्योपांत शान्त रस से ओत-प्रोत है जंबूसामि चरिउ। महाकवि वीर ने विभिन्न अनुभावों के प्रयोग द्वारा शान्त रस की हृदयस्पर्शी व्यंजना की है।

माता-पिता के मरण-वियोग से संतप्तहृदय भवदत्त सुधर्म मुनि से धर्म श्रवण करता है -

'यह सम्पूर्ण जगत इन्द्रियों के समान चंचल है, मिथ्यात्व और मोहरूपी अंधकार से अंधा है। जीवन के असि, मसि आदि व्यापार, आहारादि संज्ञाओं में लित, कामातुर तथा सुख की तृष्णा से युक्त है। यह सांसारिक कार्यों में दिन और रात सोकर व्यतीत कर देता है। मरणभय से बचने का असफल प्रयास करता है। मोक्ष सुख की कामना करता है, पर पाता नहीं। यह मनुष्य रूपी पशु भय और काम के वशीभूत हो, संतप्त हुआ तन को जलाता है।'³⁴

'परिग्रह को एकत्र करने में कष्ट होता है और अत्यन्त दुःख से छोड़ा जाता है। दुःख का विनाश करनेवाली निःसंग वृत्ति इसे भारी एवं दुष्कर लगती है। मन को संतोष नहीं होता। यह लोक विपरीत विवेक से जीता है। यदि देह के भीतर देखता भी है तो भी अभिलाषायुक्त मन

बाहर ही रह जाता है। हाथ में डंडा लेकर कौए उड़ाने जैसे व्यर्थ कामों में अपना जीवन नष्ट कर देता है।¹³⁵

यहाँ संसार की असारतारूप गुरु का धर्मोपदेश अनुभाव है। इस अनुभाव से भवदत्त का शम स्थायी भाव उद्बुद्ध हो जाता है असार संसार में अब तक बिताये गये अपने जीवन/समय पर पश्चाताप होता है। वह विषय-कषायों का त्याग कर गुरु से दीक्षा ग्रहण कर परम दिगम्बर मुनि बन जाता है। यही सहृदय के शम स्थायी भाव को जगाकर शान्त रस की अनुभूति कराता है।

तन से योगी पर मन से भोगी मुनि भवदेव जब अपने गृहस्थावस्था के नगर में जाते हैं तो अवसर पाकर घर की ओर प्रस्थान करते हैं। वहाँ एक नवनिर्मित चैत्यालय देखकर जिन प्रतिमा की वंदना कर वहीं स्थित तपस्विनी स्त्री से अपनी पत्नी नागवसू व घर के बारे में पूछते हैं, वह तपस्विनी स्त्री व्रत से विचलित अपने पति मुनि भवदेव को पहचानकर उनकी पापमति/दुर्भावना दूर करने हेतु तथा अपने धर्म में स्थिर करने के लिए अपना परिचय दिये बिना ही गंभीरतापूर्वक सविनय तत्त्वज्ञान प्रेरक प्रत्युत्तर देती है जो इस प्रकार है - 'हे त्रिभुवन-तिलक श्रमण! आप धन्य हैं जो सुख के धाम ऐसे जिन दर्शन को प्राप्त किया है। इस युवास्था में इन्द्रियों का दमन किया है। यदि परिगलित/वृद्धावस्था में विषयाभिलाषाएं शान्त हो जाती हैं (तो कोई आश्चर्य नहीं) ऐसा आपके अतिरिक्त और कौन दिखाई देता है?'¹³⁶, 'रत्न देकर कांच कौन लेता है? पीतल के लिए स्वर्ण कौन बेचता है? स्वर्ग तथा अपवर्ग/मोक्ष-सुख को छोड़कर रौरव नरक में कौन प्रवेश करता है? कौन ऋषि अपने स्वाध्याय (चिंतन)की हानि करता है?'¹³⁷

आगे फिर कहा - 'आप जिस नागवसू की पूछ रहे हैं उसके लावण्य/सौन्दर्यस्वरूप को सुनिये, उसका सिर नारियल के समान मुड़ा हुआ है। मुख लारयुक्त हो गया है, वाणी घरघराती है, नेत्र जल के बुलबुले के समान हो गये हैं, तालु ने अपना स्थान छोड़ दिया है, चिबुक, ललाट, कपोल, त्वचा आदि वायु से आहत हो रण-रण शब्द करते हैं। (अर्थात् सारा शरीर झुरीयुक्त शिथिल होकर काँपता रहता है) यह शरीररूपी घर मांस और रक्त से रहित होकर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया है। मेरे शरीर के प्रतिरूप को देखो और हृदय को निःशल्य करो।'¹³⁸

गुरु की भक्ति, वन्दना, प्रशंसा, कर्तव्याकर्तव्य, हेय-उपादेय, योग्य-अयोग्य का बोध कराने के लिए तथा स्त्री के प्रति राग नष्ट करने हेतु वृद्धावस्था का यथार्थ चित्रण करनेवाली अनुभावों की शब्दसंरचना इतनी हृदयस्पर्शी है कि भवदेव मुनि अपने कृत पर लज्जित होता है उनका स्त्री आदि पर पदार्थों से मोह/विकल्पजाल शीघ्र ही टूट जाता है, सत्यस्वरूप का बोध होता है, इन्द्रिय विषय-भोगों के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। वे आत्मनिंदा कर व प्रायश्चित्तादिपूर्वक पुनः दीक्षा लेकर सच्चे मुनि बनकर तपश्चरण करते हैं। इस प्रकार ये अनुभाव जहाँ भवदेव को समतारस का पान कराते हैं वहीं सामाजिक के 'शम' स्थायी भाव को उद्बुद्ध कर शान्त रस के सागर में निमग्न कर देते हैं।

एक श्रेष्ठी के घर से आहार कर प्रस्थान करते हुए, सागरचन्द्र मुनि को देखकर युवराज शिवकुमार को पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है। फलस्वरूप वह जरा-मरण-रूप संसार से उदासीन हो मित्र द्वारा पिता के लिए संदेश भेजता है।

यह संसार (पुनः-पुनः जन्म-मरण) रूपी काला साँप सारे लोक को पराभूत करता है। यह इन्द्रियोरूपी फणों, चतुर्गतिरूप मुख, मिथ्यात्व मोहरूपी विसदृशनेत्र, रतिरूपी दाढ़ तथा विषय-भोगरूपी चंचल जिह्वा से युक्त और शुभाशुभ कर्मफलरूपी गरल से भरा हुआ है। जिन भगवान रूपी गरूड़ ने इस (संसार) का क्षय करनेवाला तपरूपी मंत्राक्षर बतलाया है वह मेरे द्वारा ग्रहण करने और पालन करने योग्य है।³⁹

पुनर्जन्म के स्मरण से होनेवाले मानसिक चिन्तन को शिवकुमार ने वचन के द्वारा अभिव्यक्त किया है अतः अनुभाव बन गया है। क्योंकि काव्यनुशासनकार हेमचन्द्राचार्य ने अध्यात्म शास्त्र के चिन्तन को शान्त रस के अनुभाव में परिगणित किया है⁴⁰ यह सहृदय को शान्त रस की अनुभूति कराने में समर्थ है।

जब जंबूकुमार सुधर्मस्वामी से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनते हैं तो उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वे मुनिराज से दीक्षा हेतु निवेदन करते हैं। पर मुनिराज पहले उन्हें माता-पिता की अनुमति लेने घर भेजते हैं। वे घर आकर माता-पिता को नमन कर कहते हैं - इस संसार में मनुष्य का (चंचल) मन चौराहे पर रखे दीपक के समान डोलता रहता है। जीवित प्राणी की आयु सर्प के जिह्वा-स्फुरण के समान चंचल है और बल गिरि नदी के पूर्ववत (निरन्तर) हास को प्राप्त होता है। लक्ष्मी का विलास गंडमाला(रोग के) सम है और विषय-सुख नखों से खाज खुजलाने के समान है। इसलिए मैं आज ही प्रव्रज्या लूँगा। मैंने सबको क्षमाकर दिया है और लोक से भी अपने प्रति क्षमा चाहता हूँ। अब राग-द्वेष को उपशान्त करूँगा।⁴¹

जम्बूकुमार का उक्त तत्त्वज्ञानपरक चिन्तन, विषय-सुखों के प्रति अरुचि, संन्यास-ग्रहण की तत्परता आदि अनुभाव 'शम' भाव को उद्बुद्ध कर शान्तरस की अनुभूति कराते हैं।

जम्बूकुमार को उनके माता-पिता, परिजन, उनकी वाग्दत्ता वधुएँ और बधुओं के माता-पिता दीक्षा से विरत करने हेतु घर में रहने के लिए अनेक तरह से समझाते हैं पर शिवपथ के पथिक के समक्ष वे असफल रहते हैं। उल्टे जंबूकुमार ही अपने माता-पिता आदि को समझाकर उन्हें शान्त कर देते हैं।⁴² फिर पद्मश्री आदि चारों वाग्दत्ता वधुएँ जम्बूकुमार से एक दिन के लिए विवाह करने का अनुरोध करती हैं जिसे वे स्वीकार कर लेते हैं। विवाहोपरान्त नववधुओं की श्रृंगारिक चेष्टायें भी उसे विचलित नहीं कर पाती। उस समय वर का संसार से विरक्तिरूप चिन्तन पाठकों को शान्तरस में अवगाहन करा देता है।⁴³

पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री क्रमशः अपने पति को रागरंजित, जनरंजन, मनोरंजन एवं कलरंजन करनेवाली कथाएँ सुनाती हैं और विद्युच्चोर नामक छद्म मामा भी कुमार को सांसारिक विषयों में आसक्त करनेवाली विषय-भोगवर्धक कथाएँ सुनाता है। कुमार वैराग्य

कथाओं को सुनाकर उनका प्रतिकार करने में सफल हो जाते हैं। सभी विराग कथाओं के उपसंहार में निदर्शित चिन्तन अनुभाव बन शान्त-रस की निष्पत्ति में सहायक बन पड़े हैं।

संसार से विरक्त जम्बूकुमार गुरुवर्य मुनि सौधर्म का अनुग्रह प्राप्त कर मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं, केशों को उखाड़ देते हैं, निसंग वृत्ति और इंद्रियों का दमन करते हैं, ⁴⁴ बारहविध तप करते हैं और अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व तक की ये सारी प्रवृत्तियाँ अनुभाव हैं। इसी प्रकार जम्बूकुमार की चारों वधुओं, उनके माता-पिता, विद्युच्चर, आदि के द्वारा दीक्षा ग्रहणकर संयम धारण करना, तप करना, परीषहों को सहना और अन्त में संन्यास धारण करना आदि सभी शान्त रस के अनुभाव हैं। इन अनुभावों का कलात्मक संयोजनकर महाकवि ने शम स्थायी भाव को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान की है और सहृदय को शान्तरस के सागर में निमग्न करने का सफल प्रयास किया है।

इस प्रकार कवि वीर ने जम्बूसामि चरिउ में सशक्त, सटीक, स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी अनुभावों का संयोजन कर पात्रों के रत्यादि भावों को अनुभूतिगम्य बनाने में अद्भुत कौशल का प्रदर्शन किया है। उनके द्वारा सामाजिक को पात्रों की रत्यादि परिणत-अवस्था का अविलम्ब बोध होता है। इसे उसका स्वकीय रत्यादि भाव तुरन्त उद्बुद्ध हो कर उसे शृंगारादि रस से सराबोर कर देता है।

-
1. जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-225-226, प्रकाशक - श्री दि. जैन धर्म प्रभावना समिति एवं सकल दिगम्बर जैन समाज, मदनगंज-किशनगढ़।
 2. उद्बुद्धकारणैः स्वैः सर्वैर्बहिर्भाव प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥ - साहित्य दर्पण, 3.132
 3. अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्या देः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। वही, वृत्ति 3.132
 4. साहित्यदर्पण विमर्श, हिन्दी व्याख्या, पृष्ठ-201, डॉ सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा, विद्याभवन, चौक, वाराणसी।
 5. अभिज्ञान शाकुन्तल, 2.12।
 6. जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-226।
 7. जंबूसामि चरिउ 4,17, 5-11, 16-20, कवि वीर, सं. डॉ. विमलप्रकाश जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।
 8. वही 4.19, 11-15।
 9. वही 2.15, 6-15।

10. वही 2.17, 5-7 ।
11. (क) नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-227 ।
12. (क) नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-227 ।
13. नाट्यशास्त्र 6. 42 ।
14. वही, 6.43 ।
15. वही, 6.44 ।
16. वही, 6.45 ।
17. 18, 19. वही, 6.46, 47, 48 ।
20. जंबूसामि चरिउ, 4.11, 8-12 ।
21. (क) रसगंगाधर, प्रथमानन, नागेश भट्ट टीका ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-23 ।
22. (क) नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-23 ।
23. जंबूसामि चरिउ, 5,5, 7-12 ।
24. वही, 7,3 घत्ता उत्तरार्ध, 7, 4, 1-3 ।
25. वही, 7, 4, 9-13 ।
26. (क) नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-23 ।
27. जंबूसामि चरिउ, 5.13, 9-12 ।
28. वही, 7.1, 13-15 ।
29. वही, 7.1, 10-12, 16-20 ।
30. (क) नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-229 ।
31. जंबूसामि चरिउ, 10.17, 4 ।
32. वही, 2.5, 11-27 ।
33. (क) रस गंगाधर, प्रथमानन, नागेशभट्ट टीका ।
(ख) जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-230 ।
34. जंबूसामि चरिउ, 2.6, 8-10, घत्ता 6 ।

35. वही, 2.7, 1-5।
36. वही, 2.18, 2-3।
37. वही, 2.18, 4-6।
38. वही, 2.18, 10-15।
39. वही, 3.7, 10-12 घत्ता-12।
40. जयोदय महाकाव्य परिशीलन, पृष्ठ-230।
41. जंबूसामिचरिउ, 8.7.6-10।
42. वही, 8, 8, 1-17।
43. वही, 9.7.6-17, घत्ता।

मील रोड, गंजबासौदा
विदिशा (म.प्र.)

णिवेण लोएण सरवरं

तो णिवेण लोएण सरवरं
 णीलरयणपालीए पविउलं
 अमरललणकयकीलकलयलं
 कलमरालमुहदलियसयदलं
 पीलुलीलपयचलियतलमलं
 अणिलविहुयकल्लोलहयथलं
 पत्थिउ व्व कुवलयविराइयं
 करिरहंगसारंगभासियं

लक्खियं असेसं पि मणहरं।
 कमलपरिमलामिलियअलिउलं।
 चलियवलियउल्ललियझसउलं।
 लुलिय कोलउलहलियकंदलं।
 गलियणलिणरयपिंगहुयजलं।
 तच्छ्लेण णं छिवइ णहयलं।
 पुंडरीयणियरेण छाइयं।
 छंदयं विलासिणि पयासियं।

घत्ता - सरु पेच्छेवि लोउ हरिसें कहिं मि ण माइउ।
 माणससरे णाइँ अमरणियरु संपाइउ ॥

सुदंसणचरिउ 7.16

तभी राजा व अन्य लोगों ने सरोवर की ओर लक्ष्य किया, जो समस्तरूप से मनोहर था। वह अपने नील रत्नों की पालि (पंक्ति) से अतिविपुल दिखाई दे रहा था। वहाँ कमलों की सुगंध से भ्रमरपुंज आ मिले थे। देवललनाओं की क्रीड़ा का कलकल शब्द हो रहा था। मछलियों के पुंज चल रहे थे, मुड़ रहे थे, और उछल रहे थे। कलहंसों के मुखों द्वारा शतदल कमल तोड़े जा रहे थे; तथा डोलते हुए वराहों के झुण्डों द्वारा जड़ें खोदी जा रही थीं। हाथियों की क्रीड़ा से उनके पैरों द्वारा तले (नीचे) का मल (कीचड़) चलायमान होकर ऊपर आ रहा था। कमलों से झड़ी हुई रज से जल पिंगवर्ण हो रहा था। पवन से झकोरी हुई तरंगों द्वारा थलभाग पर आघात हो रहा था, मानो वह उसी बहाने नभस्तल को छू रहा हो। वह सरोवर कुवलियों (नील कमलों) से शोभायमान, पुंडरीकों (श्वेत कमलों) के समूहों से आच्छादित, हाथियों, रथांगों (चक्रवाक पक्षियों) तथा सारंगों (चातकों) से उद्भासित था, अतएव वह एक राजा के समान था, जो कुवल्य (पृथ्वी-मंडल) पर विराजमान प्रधानों के समूह से शोभायमान तथा हाथियों, रथों और घोड़ों से प्रभावशाली हो। (यह विलासिनी छन्द प्रकाशित किया।) उस सरोवर को देखकर लोग हर्ष से कहीं समाए नहीं, मानो देवों का समूह मानस सरोवर पर आ पहुँचा हो।

अनु. - डॉ. हीरालाल जैन

संदेश-रासक के रचयिता 'अब्दुर्रहमान'

— श्री वेदप्रकाश गर्ग



कवि अब्दुर्रहमान द्वारा रचित 'संदेश रासक' भारतीय साहित्य के मध्ययुग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। यह भाषा-काव्य की उपलब्ध कृतियों में सर्वप्रथम एक मुसलमान कवि की सुन्दर काव्य रचना मानी गई है और अब्दुर्रहमान भाषा के प्रथम मुसलमान ज्ञात कवि माने गए हैं।¹ रचना अपने सृष्टा की कीर्ति को अमर रखने में समर्थ है। हिन्दी के विद्वान् लेखकों में से अधिकांश ने कवि का नाम 'अब्दुल रहमान' करके लिखा है, जो ठीक नहीं है। अरबी व्याकरण की दृष्टि से 'अब्दुर्रहमान' ही लिखा जाना शुद्ध है, 'अब्दुल रहमान' नहीं। अपभ्रंश नाम शब्द 'अद्दहमाण' से 'अब्दुल रहमान' (?) (अब्दुर्रहमान) का आशय लिया गया है, जो मेरे विचारानुसार संदिग्ध है।

तथाकथित अब्दुर्रहमान की इस कृति को प्रकाश में लाने का श्रेय अपभ्रंश के अन्यतम विद्वान् मुनि श्री जिनविजयजी को है। प्राप्त तीन प्रतियों के आधार पर उन्होंने इसका संपादन कर इसे सं. 2002 वि. (सन् 1945ई.) में भारतीय विद्याभवन, बंबई (सिंघी जैन ग्रंथमाला के अन्तर्गत) से प्रकाशित कराया था। मूल पाठ एवं पाठान्तरों के अतिरिक्त उन्होंने इस संस्करण में रचना की दो संस्कृत-टीकाएँ भी प्रकाशित की हैं, जिन्हें 'टिप्पणक' और 'अवचूरिका' कहा गया है।² इस संस्करण में मुनिजी ने एक संक्षिप्त प्रस्तावना भी दी है जिसमें रचना एवं उसके समय-आदि से संबंधित प्रश्नों पर बड़ी योग्यतापूर्वक विचार किया गया है। साथ ही इस संस्करण में डॉ. हरिवल्लभ भायाणी की भूमिका भी है, जिसमें रचना के व्याकरण एवं छंद-विधान आदि

पर वैज्ञानिकता के साथ विचार किया गया है और संस्करण के अंत में डॉ. भायाणी ने रचना का एक शब्द-कोश भी दिया है, जिसमें शब्द-व्युत्पत्ति एवं अर्थ देने का प्रयास है। इस प्रकार रचना के महत्त्वानुरूप ही इस संस्करण को अधिकाधिक रूप में उपयोगी बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है। 'संदेश-रासक' का एक अन्य संस्करण श्री विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा संपादित हिन्दी-ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इस संस्करण के प्रकाश में आने का श्रेय डॉ. हजारीप्रसादजी द्विवेदी को है। यह संस्करण भी कुछ नवीन सामग्री के प्रकाश में उपयोगी बनाने का एक सुन्दर प्रयास है।¹ उक्त दोनों संस्करणों के अतिरिक्त 'संदेश-रासक' का पाठ डॉ. दशरथ ओझा तथा डॉ. दशरथ शर्मा द्वारा संपादित ग्रंथ 'रास और रासान्वयी काव्य' (प्र. - नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी) के अन्तर्गत भी प्रकाशित हुआ है। इस प्रकार इस रचना के सम्प्रति तीन प्रकाशित संस्करण प्राप्त हैं।

कवि का विशेष 'वृत्त' अज्ञात है, क्योंकि वह अपने विषय में अधिक मुखर नहीं है। उसने 'संदेश-रासक' के प्रारम्भ में 'कर्तार-स्तुति' के पश्चात् अपना अति संक्षिप्त परिचय मात्र इस रूप में दिया है-

पच्चाएसि पहुओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छ देसोत्थि
तह विसए संभूओ आरद्द मीर सेणस्स ॥ 3 ॥
तह तणओ कुल कमलो पाइय कव्वेसु गीय विसयेसु
अद्दहमाण पसिद्धो संनेह रासयं रइयं ॥ 4 ॥

प्रथम छंद का अर्थ उसके 'टिप्पनक' के आधार पर, जिसका भाव यह है कि 'पश्चिम दिशा में म्लेच्छ नाम देश है, जो पूर्व में बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ मीरसेन नामक जुलाहा (आरद्द) उत्पन्न हुआ' किया गया है और अधिकांशतया विद्वानों ने भी बिना कोई विशेष विचार किए, उसे स्वीकार कर तथाकथित अब्दुरहमान के पिता का नाम 'मीर सेन' तथा उसे जुलाहा जाति का मान लिया है, किन्तु डॉ. शैलेश जैदी ने अपने अर्थ-चिन्तन से उक्त छंद के अर्थ संबंध में कवि-परिचय विषयक तथ्यात्मक नवीन उद्भावनाएँ की हैं। जिनके आधार पर अब्दुरहमान का परिचय इस प्रकार है-

“पश्चिम दिशा की पृथ्वीवाला प्राचीन काल से प्रसिद्ध 'मिसहद (मिच्छद + एस + तिथ = मिच्छदेसोत्थि) नामक देश है। उस देश में 'मीरहुसेन' का (मीर सेणस्स) पुत्र उत्पन्न हुआ।¹ अतः डॉ. जैदी के अनुसार कवि को जुलाहा जाति का माना जाना, गलत है। वह सैयद जाति के मुसलमान थे, क्योंकि 'मीर' शब्द सैयद जाति का द्योतक है। उनके पिता का नाम 'मीरहुसेन' था, जो मुहम्मद गोरी के साथ भारत आए थे और उन्हें अजमेर का दारोगा नियुक्त किया गया था। यहीं पर उनका देहान्त सन् 610 हिजरी अर्थात् 1213 ई. में हुआ था। गोरी और अपने पिता के भारत आगमन के समय अर्थात् 589 हि. (1193 ई.) में संभवतः तभी अब्दुरहमान का भी भारत में आना हुआ था। भारत आगमन के समय अनुमानतः उनकी आयु 22-23 वर्ष की रही होगी और इस प्रकार डॉ. जैदी के विचार से उनका जन्म सन् 1170 ई. के आस-पास

उहरेगा। डॉ. साहब ने उक्त सब बातों के आधार पर 'संदेश-रासक' का रचना काल सन् 1213 ई. के आस-पास स्वीकार किया है।¹ इस रूप में डॉ. जैदी का यह प्रयास स्तुत्य तो है, इसमें कोई संदेह नहीं, किन्तु समस्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में वह फिर भी विचारणीय है।

कवि ने अपना उल्लेख 'अद्दहमाण' के रूप में किया है और 'अद्दहमाण' से 'अब्दुल रहमान' (अब्दुर्रहमान) का आशय लिया गया है, क्योंकि दोनों टीकाकारों ने इसी रूप में नामोल्लेख किया है और वे इस विषय में एकमत हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'अद्दहमाण' के अर्थरूप पर तो विचार कर 'अद्दहमाण' का अर्थ 'आहितयशाः' (अद्दह का अर्थ रक्षित या आहित अर्थात् जिसका मान या यश प्राकृत काव्यों में और गीत विषयों में सुरक्षित रहेगा। अतः उसका अद्दहमाण नाम पूर्णतः सार्थक है) किया है⁶ किन्तु उन्होंने 'अद्दहमाण' के शब्द-रूप पर विशेष विचार नहीं किया जब कि इस पर विशेष ध्यान दिया जाना आवश्यक था। जैसे - 'चउमुह' का 'चतुर्मुख' और 'तिहुयण' का 'त्रिभुवन' शब्द-रूप निश्चित किया गया है और जो वास्तविक है, उसी प्रकार 'अद्दहमाण' का वास्तविक शब्द-रूप स्थिर करना उचित होगा, क्योंकि - 'संदेश-रासक' के अध्ययनोपरान्त किसी प्रकार भी यह किसी मुस्लिम कवि की कृति प्रतीत नहीं होती। इसलिए यह तथ्य विचारणीय है।

'संदेश-रासक' के रचना-कौशल से पता चलता है कि कवि प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में निष्णात था, ऐसा उसके आत्म-निवेदन से भी प्रगट है। कृति के अध्येता को पदे-पदे यह विश्वास होता चलता है कि कवि को भारतीय-साहित्य-परम्परा का पूर्ण ज्ञान है और उसमें भारतीय-साहित्य के संस्कार पूरी मात्रा में विद्यमान थे। उसकी सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में अभारतीयता का कहीं लेश भी नहीं मिलता। उसके भाव और विचार पूर्णतया भारतीयत्व से पगे हैं। अतः 'संदेश-रासक' को किसी अहिन्दू कवि की रचना मानना उचित नहीं है। हाँ, यहाँ एक तथ्य का और उल्लेख कर दूँ - 'संदेश-रासक' के रड्डा छंद सं. 223 के अंत में दिए हुए दोहे का सीधा अर्थ है - 'जिस प्रकार उस नायिका का अचिन्तित महान् कार्य क्षणाद्ध में ही सिद्ध हो गया, उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालों का भी हो, अनादि-अनन्त परम पुरुष की जय हो।' उक्त दोहे के अंतिम चरण के 'जयउ अणाइ अणंतु' शब्द-पाठ पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विचार किया है और इसका अर्थ उपर्युक्त रूप में ही किया है, किन्तु साथ ही रचना की 'सी' प्रति में प्राप्त पाठ पर भी विचार किया है। वह पाठ 'जयउ अणाइतु अंतु' के रूप में है और द्विवेदीजी ने इस पाठ को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होंने इसका अर्थ किया है - 'उसी प्रकार पढ़ने-सुननेवालों के अनागत अंत की जय हो' अर्थात् पढ़ने-सुननेवालों के मन में जो भी इच्छा हो, उसका अंत भविष्य में जय युक्त होवे। उनके विचार से 'अनागत अंत' का अर्थ है - 'कयामत का दिन।' इस पाठ एवं अर्थ के आधार पर द्विवेदीजी ने कवि को निश्चितरूप से मुस्लिम-धर्मानुयायी माना है। उनका कथन है कि - 'यह पाठ कवि को निश्चितरूप से मुस्लिम-धर्मानुयायी सिद्ध करता है।' किन्तु द्विवेदीजी का इस पाठ को लेकर किया गया वैचारिक ऊहा-पोह सार्थक नहीं है और उक्त पाठ से किया गया अर्थ भी खींचतान पर ही आधारित है, क्योंकि 'अनागत' के लिए 'अणागय' शब्द होता है (पाइय सद महण्णव)न कि 'अणाइतु'। मेरे विचार में 'अणाइतु

अंत' विकृत पाठरूप है, सार्थक नहीं। अतः इस पाठभेद के आधार पर कवि को मुस्लिम धर्मानुयायी सिद्ध करना उचित नहीं है। अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'संदेश-रासक' को एक मुसलमान कवि की रचना न मानने से मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि किसी मुसलमान कवि द्वारा भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में मंडित काव्य-रचना करने की प्रतिभा पर मैं शंका कर रहा हूँ। हिन्दी में अनेक मुसलमान कवियों ने भारतीय सांस्कृतिक परिवेश के आधार पर अनेक उच्चकोटि के काव्यग्रंथ रचकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, किन्तु इसी के साथ यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में ऐसे स्पष्ट संकेत दिए हैं जिनसे यह पूर्णतया ज्ञात हो सका कि अमुक रचना का रचियता इस्लाम-धर्मावलम्बी था। संदेश-रासक में ऐसे परिचय संकेतों का अभाव है। अदहमाण ने जो अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया है उससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह मुसलमान था। पुष्ट प्रमाणाभाव ही इसमें कारक है। यदि भविष्य में ऐसे प्रमाण मिले और उनसे अदहमाण के मुसलमान होने की पुष्टि हो, तो फिर यह स्थिति शंकनीय नहीं है।

जहाँ तक डॉ. जैदी की स्थापना का प्रश्न है, उसके संबंध में मुझे इतना ही कहना है कि उसकी कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि उन्होंने 'अदहमाण' का अपने पिता के साथ विदेश (मिशहद) से सन् 1193 में भारत आना और सन् 1213 के लगभग संदेश-रासक का रचा जाना माना है, जो उचित प्रतीत नहीं होता। कारण कि किसी विदेशी का, चाहे वह कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, इतने कम समय में तत्कालीन अपभ्रंश भाषा पर असाधारण अधिकार पा लेना, भारतीय संस्कारों की बहुशः जानकारी का होना और फिर सफल काव्य-रचना में पारंगत होना, संगत नहीं है। अतः डॉ. जैदी के उक्त समाधानात्मक विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।^{१०} अस्तु।

जैसा लिखा ही जा चुका है कि टीकाकारों के आधार पर 'अदहमाण' का शब्द-रूप 'अब्दुल रहमान' माना गया है, किन्तु विशेष कारणों से, जिनका उल्लेख किया जा चुका है, यह शब्द-रूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। मेरे विचारानुसार 'अदहमाण' का शब्द-रूप 'आर्द्रमान' जैसा होना चाहिए। 'आर्द्रकुमार', 'आर्द्र देव' जैसे नाम मिलते भी हैं। अतः 'आर्द्रमान' नाम होने में कोई बाधा नहीं है। फिर भी अपभ्रंश भाषा की प्रकृति के अनुसार 'अदहमाण' के वास्तविक शब्द-रूप पर विचार करना उचित रहेगा। विद्वानों से निवेदन है कि इस समस्या पर अवश्य ध्यान देने का कष्ट करें।

कवि के परिचयात्मक छंद में लिखा है^{११} —

पच्चाएसि पहूओ पुव्व पसिद्धो य मिच्छ देसोत्थि ।
 तह विसए संभूओ आरद्धो मीर सेणस्स ॥ 3 ॥
 तह तणओ कुल कमलो पाइय कव्वेसु गीय विसयेसु ।
 अदहमाण पसिद्धो संनेह रासयं रहयं ॥ 4 ॥

छंद सं.-3 के प्रथम चरण में आए हुए 'पच्चाएसि' की संस्कृत व्याख्या संस्कृत-टीकाओं में 'प्रतीच्यां' करके की गई है। डॉ. भायाणी ने ग्रंथ के शब्दकोश में इसे 'प्रत्यग् देश' से निष्पन्न किया है। वास्तव में 'पच्चाएस' पश्चात्+देश है। 'पच्चा' और 'पच्छा' दोनों 'पश्चात्' के प्राकृत-रूप हैं और दोनों का अर्थ - 'पश्चिम दिशा' है। इसी प्रकार 'एस' और 'देस' दोनों 'देश' के प्राकृत रूप हैं।¹⁰ अतः 'पच्चाएसि' का अर्थ होगा - 'पश्चिम दिशा के देश में'। इसमें आगे 'मिच्छ देसोत्थि' का उल्लेख है, जो कवि का निवास प्रदेश है। टीकाकारों ने इसका अर्थ 'म्लेच्छ नामा-देशो' किया है। 'प्राकृत शब्द महार्णव' में भी 'मिच्छ' का अर्थ 'म्लेच्छ' ही दिया हुआ है किन्तु इस म्लेच्छ देश की वास्तविक स्थिति ज्ञात नहीं है। वैसे यह प्रसिद्ध है कि आर्यजन जिस प्रदेश का परित्याग कर देते थे, वह म्लेच्छ देश कहलाता था। जैसे मनुस्मृति में म्लेच्छ देश को यज्ञिय देश से परे बताया गया है¹¹ और अमरकोश¹² के प्रमाण से स्पष्ट है कि देश का पश्चिमोत्तर भाग उदीच्य और प्रत्यन्त भाग म्लेच्छ देश कहलाता था। अतः यह अनुमान स्वाभाविक है कि 'मिच्छ' या 'म्लेच्छ' देश से कवि का आशय सिन्धु तटवर्ती भू-भाग (वर्तमान पश्चिमी पाकिस्तान में) से रहा है। मेरे विचार से म्लेच्छ देश की संगति 'मुल्तान' से है, क्योंकि मुल्तान और उसके आस-पास का इलाका भी इसका निकटवर्ती होने से म्लेच्छ देश ही कहलाता रहा है। जैसा- 'शक्ति संगम तंत्र' के निम्न श्लोक से प्रतीत होता है- 'मुल्तान देशो देवेशि! महाम्लेच्छ परायणः।'¹³

परिचय-छंद की अगली पंक्ति का अर्थ संस्कृत-टीकाओं में ऐसे किया गया है- 'तत्र विषये आरद्दो देशीत्वात् तंतुवायो मीरसेनाख्यः संभूतः उत्पन्नः।' आचार्य द्विवेदीजी ने इस अर्थ पर ठीक ही आपत्ति की है कि 'मीरसेणस्स' षष्ठ्यन्त पद है, उसकी व्याख्या 'मीरसेनाख्यः' प्रथमान्त पद के रूप में नहीं होनी चाहिए। अतः द्विवेदीजी ने 'आरद्द मीरसेणस्स' की संगति 'मीर सेन का आरद्द' (मीर सेन के गृहागत) अर्थ करके लगाई है,¹⁴ किन्तु यह संगति संतोषप्रद नहीं है। मेरे विचार में चरण का सीधा अर्थ होगा - 'उस विषय (प्रदेश) में आरद्द हुआ, जो मीर सेन का (पुत्र) था।' - 'आरद्द' का अर्थ संस्कृत-टीकाओं में जो 'देशीत्वात् तंतुवायः' किया गया है, वह निराधार है। आगे कवि ने छंद-19 में अपने को 'कोलिय' कहा है, संभवतः इसी के आधार पर 'आरद्द' के इस अर्थ की कल्पना इन टीकाओं में कर ली गई है।

द्विवेदीजी ने गृह-आगत अर्थ हेतु 'आरद्द' को 'आरद्ध' शब्द माना है, किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि 'आरद्ध' (गृह-आगत) जो देशज शब्द है, उसे आचार्य जी ने 'आरद्द' कैसे माना है? फिर भी यदि 'आरद्द' शब्द को 'आरद्ध' मान लिया जाय, तो गृह-आगत आदि अर्थों के अतिरिक्त 'महण्णवो' में इसका अन्य अर्थ - आरब्ध, प्रारब्ध भी मिलता है। अतः इस आरद्ध शब्द के अनुसार तीसरे छंद की दूसरी पंक्ति का एक अर्थ यह भी हो सकता है - 'उस प्रदेश में मीरसेन का भाग्योदय हुआ। डॉ. जैदी ने 'आरद्द' शब्द को अरबी भाषा के 'अरद्द' शब्द से बना होने की संभावना व्यक्त की है। अरबी शब्द-कोश में 'आरद्द का अर्थ - लाभप्रद तथा उपयोगी दिया हुआ है। मीरसेन को लाभ पहुँचानेवाला अथवा मीरसेन का लाभ उसका पुत्र ही हो सकता है।'¹⁵ अतः यहाँ आरद्द शब्द का अर्थ 'पुत्र' किया जा सकता है, जो संगतिपरक है।

संस्कृत-टीकाओं में 'आरद्' को जाति-सूचक माना गया है और प्रतीत होता है कि छंद सं. 19 में आए हुए 'कोलिय' शब्द के सहारे इसका अर्थ 'तंतुवाय' किया गया है, किन्तु 'जुलाहा जाति' के अर्थ में यह शब्द अन्यत्र कहीं देखने में अभी तक नहीं आया और फिर 'कोलिय' शब्द भी मात्र 'जुलाहा' अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता, बल्कि उसका एक अन्य अर्थ 'सत्कुलोद्भव' अर्थात् अच्छे कुल में उत्पन्न भी होता है। अतः डॉ. जैदी द्वारा 19वें छंद का दिया हुआ अर्थ अधिक सुसंगत प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है - 'अपनी कविता की विद्या के माहात्म्य को और उत्तम कुल के (कौलेय>कोलेय>कोलिय) पांडित्य को प्रस्तारित करनेवाला मनुष्य लोक में प्रकाशित अथवा ख्यातिप्राप्त संदेश-रासक सरल भाव में कौतूहल से प्रतिभासित है।'

पं. चन्द्रकान्त बाली ने 'आरद्' शब्द को 'आरट्ट' शब्द के रूप में ग्रहण किया है।¹⁶ 'आरद्' का पाठ-भेद 'आरट्ट' संभव है। आरट्ट का तात्पर्य आधुनिक कथ्य में 'अरोड़ा' प्रसिद्ध है, जो पंजाब की प्रसिद्ध जाति है। उसे वयन जीवी जाति नहीं माना जाता। अथः विद्या-निष्णात कलाविज्ञ अद्दहमाण का अपनी पैतृक विद्या-संपदा के बल पर सिद्ध-प्रसिद्ध कवि होना स्वाभाविक है। जाति-सूचक अर्थ में पं. बाली के इस उल्लेख को स्वीकार किया जा सकता है और इसमें कोई असंगति भी नहीं है।

अद्दहमाण के पिता का 'मीरसेन' नाम भी ध्यान देने योग्य है। विद्वानों ने इसके 'मीर' एवं 'सेन' पदों में भी विसंगति मानी है। उनके विचार में 'मीर' मुस्लिम सूचक है और 'सेन' हिन्दू-उपाधि है। श्री विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'मीरसेन' को 'तानसेन' से मिलाया है। वे लिखते हैं- 'मीरसेन की ही भांति मुसलमान कहे जाने वाले प्रसिद्ध गायक तानसेन के नामान्त में भी सेन है। कुछ लोगों के अनुसार तानसेन जन्म-जात मुसलमान नहीं थे। इसीलिए त्रिपाठीजी के विचार में 'मीरसेन' भी धर्मान्तरित मुसलमान थे,¹⁶ किन्तु ऐसा विचार भ्रमात्मक ही है।

एक प्रकार से यह सही है कि 'मीर' मुस्लिम सूचक भी है, क्योंकि 'मीर' शब्द सैयद जाति का द्योतक रहा है और 'सेन' शब्द साधारणतः मुस्लिम नाम के पीछे लगा हुआ मिलता भी नहीं है, किन्तु हिन्दुओं में तो नामान्त पद 'सेन' वाले नामों का प्राचीन समय से ही पर्याप्त प्रचलन रहा है। अतः मीरसेन के 'मीर' पद पर विशेष ध्यान की आवश्यकता है। मेरा विचार है कि यह 'मीर' पद मुस्लिम सूचक न होकर किसी अन्य शब्द का विकृत रूप है, क्योंकि हिन्दुओं में 'मिहिर सेन', 'मिहीं सेन' ध्वनि साम्यवाले जैसे नामों का प्रचलन रहा है। संभव है, यह 'मिहिर' का ही अपरूप हो। वैसे 'मीर' संस्कृत में 'समुद्र' वाची शब्द भी है अर्थात् मीर शब्द का अर्थ- 'सागर' है। अतः मेरी राय में 'मीर सेन' (मिहिर सेन) शुद्ध हिन्दूवाचक शब्द है।

उक्त विचारणा के आधार पर पूरे परिचय-पद (सं. 3-4) का अर्थ इस प्रकार होगा- 'पश्चिम दिशा में म्लेच्छ नामक देश (मुल्तान या निकटवर्ती भू-भाग) है, जो पूर्व में बहुत प्रसिद्ध है। वहाँ (उस विषय 'प्रदेश' में) मीरसेन का (मीरसेणस्स) पुत्र उत्पन्न हुआ अथवा उस प्रदेश में आरट्ट (अरोड़ा) जातीय मीरसेन हुआ। उसके पुत्र-अद्दहमाण ने, जो अपने कुल

का कमल था और प्राकृत-काव्य एवं गीत विषयों में सुप्रसिद्ध था, संदेश-रासक की रचना की।'¹⁸

'रासक' की कथा-अन्तर्गत आए नगर-नामों में विजय नगर एवं खंभात के अलावा अन्य तीन नगरों के नाम इस प्रकार हैं- सामोरु, तपन तीर्थ और मुल्तान। 'विजय नगर' को मुनिजी ने जैसलमेर राज्य के अन्तर्गत माना है¹⁹ और 'खंभात' तो गुजरात का सुप्रसिद्ध व्यापारिक नगर है ही। 'सामोरु' को संस्कृत - टीकाकारों ने मुल्तान नगर बताया है।²⁰ मुल्तान का प्राचीन नाम कश्यपपुर था फिर उसका नाम हंसपुर पड़ा फिर भगपुर और इसके बाद साम्बपुर। अतः 'सामोरु' साम्बपुर है, जो मुल्तान का पूर्व नाम रहा है।²¹ मुल्तान (मूल स्थान) तपन तीर्थ-अर्थात् आदित्य तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा है और किसी समय यहाँ के सूर्य-मंदिर की विशेष ख्याति रही है। यह चन्द्रभागा (चिनाब) नदी के तट पर अवस्थित है। अतः सामोरु, मूलस्थान (मुल्तान) एवं तपनतीर्थ एक ही हैं। इसमें कोई संशय नहीं है।

अपभ्रंश में रासक-परम्परा की इस रचना (संदेश-रासक) में रचनाकाल का अभाव है। अतः इसकी रचना कब हुई, इस संबंध में भी विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। जहाँ पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजयजी संदेश-रासक के कर्ता अद्दहमाण को मुहम्मद गोरी के आक्रमण से किंचित् पूर्वकाल का, ईसा की 12 वीं शताब्दी का कवि मानते हैं,²² वहाँ महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'हिन्दी काव्य-धारा' में इनको 11 वीं शती का कवि माना है।²³ आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' में इनका समय 12 वीं तथा 13 वीं शती ई. निश्चित् करते हैं।²⁴ श्री विश्वनाथ त्रिपाठी भी मुनिजी के विचार से सहमत हैं।²⁵ डॉ. अम्बाप्रसादजी सुमन ने भी उन्हें 12 वीं शती ई. के आस-पास का कवि माना है।²⁶ श्री अगरचन्द नाहटा ने उक्त मंतव्यों के विपरीत संदेश-रासक को सं. 1400 वि. के आस-पास की रचना होना बतलाया है²⁷ अतः यह तथ्य भी विचारणीय है। अब उसी पर विचार किया जा रहा है।

इतना तो निश्चित् है कि संदेश-रासक की रचना सं. 1465 वि. के पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि इस संवत् में जैन साधु लक्ष्मीचन्द ने इस पर संस्कृत में टिप्पणी लिखी थी।²⁸ प्राकृत के सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'वज्जालग' पर रत्नदेव गणि ने सं. 1393 में एक संस्कृत-टीका लिखी थी। इस टीका-ग्रंथ में अनेक गाथाएँ आचार्य हेमचन्द्र रचित और संदेश-रासक के लेखक अद्दहमाण रचित सम्मिलित हैं।²⁹ इससे स्पष्ट है कि संदेश-रासक की रचना सं. 1393 से पूर्व हो चुकी थी।

डॉ. हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने एक अन्य प्रमाण अपने 'हिन्दी-साहित्य' नामक ग्रंथ में दिया है, जो अधिक निर्णायक माना जा सकता है। उन्होंने निर्दिष्ट किया है कि हेमचन्द्र सूरि ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'हेम-शब्दानुशासन' में संदेश-रासक का पद्य उद्धृत किया है।³⁰ 'सिद्ध हैम' का रचना-काल सं. 1192 मान्य है। अतः इस समय से पूर्व ही 'रासक' की रचना हो गई थी।

'संदेश-रासक' में मुल्तान (मूल स्थान) का वर्णन एक बड़े और समृद्ध हिन्दू-तीर्थ के रूप में हुआ है। हिन्दू-तीर्थ के रूप में उसकी यह प्रसिद्धि वहाँ स्थित मार्तण्ड-मंदिर के कारण थी। इस मंदिर को सर्वप्रथम मुहम्मद-बिन-कासिम ने विध्वस्त किया था, किन्तु कुछ कालोपरान्त

फिर से उसकी प्रतिष्ठा व्याप्त हो गई थी। तत्पश्चात् महमूद गजनवी ने मुल्तान पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया और वहाँ के सूर्य-मंदिर को पूर्णतया नष्ट कर उसे जुम्मा-मसजिद में परिवर्तित करा दिया था। यह घटना सं. 1062 की है।¹¹ इस आक्रमण के अनन्तर उसकी वह समृद्धि और तीर्थरूप प्रसिद्धि सदैव के लिए मिट गई थी। इससे प्रतीत होती है कि संदेश-रासक की रचना सं. 1062 से पूर्व हो गई थी।

कवि ने 'रासक' के आरम्भ में 'कवि-वन्दना' की है और इसी संदर्भ में आगे कवि ने अपभ्रंश के प्रसिद्ध 'चउमुह' (चतुर्मुख) का उल्लेख किया है। 'चउमुह' के साथ ही 'सेसा' का भी नाम आया है। यह 'सेसा' शब्द अपभ्रंश के महाकवि 'स्वयंभू' के लिए आया है, क्योंकि स्वयंभू का एक कीर्ति नाम 'शेष' पड़ गया था। इसीलिए लोक में स्वयंभू 'सेस' नाम से परिचित थे। कारण कि स्वयंभू का काव्य- 'विकट बंध-सुछंद-सरसता' के लिए प्रसिद्ध है और उक्त विशेषण स्वयंभू के काव्य के लिए ही व्यवहृत हुए हैं। कवि के साथ ही 'तिहुयण' का नाम भी कौशलपूर्वक लिया है। 'त्रिभुवन' महाकवि स्वयंभू के पुत्र थे जो त्रिभुवन स्वयंभू के रूप में प्रसिद्ध हुए।¹² कवि स्वयंभू का समय 840-920 ई. अनुमानित किया गया है और उनके पुत्र त्रिभुवन का समय बाह्य साक्ष्यों के आधार पर 893 से 943 ई. के आस-पास तक माना गया है।¹³

आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इस संबंध में पर्याप्त विचारणा की है। उनके विचारानुसार त्रिभुवन, अद्दहमाण के थोड़े ही पूर्ववर्ती थे या समसामयिक थे और स्वयंभू अधिक पूर्ववर्ती। इसीलिए उन्होंने त्रिभुवन के लिए तो 'दिदु, (देखा है) का प्रयोग किया है और स्वयंभू के काव्य के लिए 'सुअ' (सुना हुआ) कहा है।¹⁴ चूँकि त्रिभुवन का समय विक्रम की 10वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतः अद्दहमाण का समय विक्रम की 11वीं शती का पूर्वार्द्ध मानने में कोई अड़चन नहीं है। इस प्रकार कवि का समय विक्रम की 11वीं शती का पूर्वार्द्ध ठहरता है और यही समय 'संदेश-रासक' के रचे जाने का है, जो सब प्रकार से संगतिमूलक है।

1. यद्यपि फारसी के तजकिरो में भाषा के प्रथम मुसलमान कवि के रूप में मसऊद सअद सलमान का उल्लेख मिलता है, किन्तु उसकी रचनाएँ अप्राप्य हैं।
2. उक्त प्रतियाँ इस प्रकार हैं- (1) पाटन-भण्डार की मूल पाठवाली प्रति (2) पूना स्थित भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट की मूल पाठ एवं संस्कृत अवचूरिकावाली प्रति (3) मारवाड़ स्थित लोहावत की मूल पाठ सहित संस्कृत टिप्पणीवाली प्रति। यह संस्कृत टिप्पणी लक्ष्मीचन्द नामक जैन साधु ने सं. 1465 वि. में लिखी थी। 'संदेश-रासक' के मुद्रण कार्य की लगभग समाप्ति पर श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी एक अन्य अपूर्ण प्रति मुनिजी के पास भेजी थी; जिसमें संस्कृत-वर्तिका भी दी हुई है। यह बीकानेर की प्रति कहलाती है। इस प्रकार इस संस्करण के समय मुनिजी को इन्हीं चार प्रतियों का पता लग सका था। (4) इस संस्करण में जयपुर से प्राप्त 'संदेश-रासक' की एक अन्य महत्वपूर्ण प्रति का

उपयोग किया गया है। दुर्भाग्य से इस प्रति में आरम्भ के दो पत्र नहीं हैं। इसका लि. काल सं. 1608 है और इसमें मूलपाठ एवं उसकी संस्कृत-छाया दी हुई है, जिसे प्रकाशित संस्करण में 'अवचूरी' नाम दिया है। प्रस्तुत संस्करण में अलीगढ़ के डॉ. राम सुरेश त्रिपाठी से प्राप्त इस रचना के एक पत्र (11वां) का उपयोग भी किया गया है (दे. उक्त संस्करण, भूमिका पृ. 72-76)।

4. सम्मेलन-पत्रिका, भाग 51 सं. 1-2, पृ. 187-88।
5. वहीं, 'संदेश-रासक के रचयिता अब्दुर्रहमान' नामक लेख, पृ. 185-194।
6. संदेश-रासक, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर, बम्बई, प्रस्तावना, पृ. 131।
7. वही, प्रस्तावना, पृ. 58। प्रतीत होता है कि इस पाठ-भेद पर विचार के समय द्विवेदीजी के मन में अब्दुर्रहमान शब्द की विद्यमानता प्रभावी थी, तभी वे इस पाठ के द्वारा कवि को मुस्लिम-धर्म का सिद्ध कर सके। अन्यथा इस पाठ की निरर्थकता स्वतः स्पष्ट है। इससे ऐसा अर्थ नहीं निकाला जा सकता।
8. प्रथम तो अपभ्रंश काव्यकार के रूप में कोई मुसलमान कवि हुआ ही नहीं, फिर भी यदि एक बार को यह मान भी लिया जाए कि 'अद्दहमाण' इस्लाम धर्मावलम्बी ही था, तो तब इस संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि वह किसी भारतीय उच्च श्रेणी से संबंधित था और जिसने किसी कारणवश धर्मान्तरण कर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था अर्थात् वह नव धर्मान्तरित मुसलमान था। इसी कारण उसमें भारतीय-संस्कार विद्यमान थे और उसका तत्कालीन भाषा-ज्ञान परिपुष्ट था।
9. संदेश-रासक, प्रथम प्रक्रम छंद सं. 3 व 4।
10. प्राकृत शब्द महार्णव(पाइय सद्द महण्णव) कोश में उक्त शब्द।
11. मनु ने यज्ञीय देश का लक्षण यह बताया है कि वहाँ कृष्णसार मृग स्वाभाविक रूप से विचरते हैं- 'कृष्णसारस्तु चरित मृगो पत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छ देशस्ततः परः॥ - मनुस्मृति-अध्याय 3/23।
12. (क) उदीच्यः पश्चिमोत्तर। प्रत्यन्तो म्लेच्छ देशः (2.1.6)
(ख) चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते।
म्लेच्छ देशः स विज्ञेयः आर्यावर्तः ततः परम्॥
13. ओझा-निबन्ध-संग्रह, भाग 1 पृ.13।
14. संदेश-रासक (हि.ग्र.र.का. बम्बई-संस्करण), प्रस्तावना, पृ.11-12।
15. सम्मेलन-पत्रिका, भाग 51 सं. 1-2, पृ.187-189।
16. पंजाब प्रांतीय हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.101-2।
17. संदेश-रासक (हि.ग्र.र.का. बम्बई-सं.) भूमिका, 78 एवं पा. टि.-4।

18. ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने जिस समय संदेश-रासक की रचना आरम्भ की, उस समय वह अपने निवास-स्थान मुल्तान (क्योंकि अद्दहमाण मुल्तान का रहनेवाला था) से पूर्व दिशा के किसी स्थान पर प्रवासी था। तभी उसने ऐसा कथन किया है। तात्पर्य यह है कि रचना का आरम्भ पूर्व दिशा के किसी स्थल पर हुआ।
19. संदेश-रासक, प्रिफेस, पृ. 12।
20. श्री चन्द्रकान्त बाली ने 'सामोरु' को 'शम्बर स्कन्द' (समरकन्द) होने अनुमान किया है, जो उचित नहीं। दे. पं.प्रा.हि.सा. का इति. पृ. 101 एवं परि.6।
21. सम्मेलन-पत्रिका भाग 51, सं. 1-2, पृ.193।
22. संदेश-रासक, प्रिफेस, पृ. 12।
23. हिन्दी काव्य धारा, पृ. 292।
24. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ. 40।
25. संदेश-रासक (हिं.ग्रं.र.का. बम्बई-सं.) भूमिका, पृ. 81-82।
26. सम्मेलन-पत्रिका, भाग 50, सं. 2-3, पृ. 57।
27. राजस्थान-भारती, भाग 3, अंक 1, पृ. 46। श्री अगरचंद नाहटा इसे अधिक पुरानी रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनके विचार से 'रासक' की रचना लक्ष्मीचंद के बहुत पूर्व नहीं हुई थी। दे. विकास 2।3।
28. संदेश-रासक, पृ.90 टिप्पणक।
29. जैन-साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 6, पृ.561।
30. हजारीप्रसाद-ग्रंथावली, तीसरा खंड, पृ. 298।
31. इस संवत् में गजनवी ने मुल्तान पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में किया था। अतः इससे बाद का समय कदापि नहीं माना जा सकता।
32. संदेश-रासक, मूल, छंद सं. 17-18 (प्र.प्र.)।
33. शोधादर्श-20, पृ. 31 (पउमचरिउ के संपादक डॉ. भायाणी के अनुसार)।
34. संदेश-रासक (हिं.ग्रं.र.का. बम्बई संस्करण), प्रस्तावना, पृ. 16-17।

हिन्दी भाषा पर प्राकृत का प्रभाव

— डॉ. बहादुर मिश्र

भाषिक दृष्टि से हिन्दी में अपभ्रंश और प्राकृत की परम्पराएँ संस्कृत की तुलना में कहीं अधिक सुरक्षित हैं। इसका कारण यह है कि भाषिक विकास की दृष्टि से हिन्दी अपभ्रंश की ठीक पीठ पर आती है। फलस्वरूप, हिन्दी अपभ्रंश की सीधी/सहज वारिस ठहरती है। किन्तु, सामान्यजनों के बीच विपरीत धारणा प्रचलित है कि हिन्दी संस्कृत की वारिस है, न कि अपभ्रंश की। यही कारण है कि कुछ लोग इसे 'संस्कृत की बेटी' कहकर अभिहित करते हैं। जहाँ तक हिन्दी में प्रचलित तत्सम शब्दावली (जैसे - पृष्ठ, चरण, हस्तलाघव, पाद-प्रहार, अपयश, अपरिहार्य, शल्य-चिकित्सा, कथा, अश्व इत्यादि) का प्रश्न है, यह बात सही हो सकती है। वैसे, हिन्दी में प्रयुक्त तत्सम शब्दावली का एक बड़ा भाग संस्कृत से प्राकृत/अपभ्रंश होते हुए आया। डॉ. भोलानाथ तिवारी ने हिन्दी में स्रोत की दृष्टि से 'तत्सम' शब्द के जो चार प्रकार निर्धारित किये हैं, उनमें पहला प्रकार प्राकृतों (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) से होकर आनेवाले बहुसंख्यक शब्दों का है; यथा - अचल, अघ, काल, कुसुम, जन्तु, दण्ड, दम इत्यादि।' लेकिन, जहाँ तक हिन्दी के 'तद्भव' शब्द-भंडार का सवाल है, ये (शब्द-भंडार) भी मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं - प्राकृत तथा अपभ्रंश के रास्ते हिन्दी में आए। उदाहरण के लिए -

हिन्दी	मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा	मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा
	प्राकृत - अपभ्रंश	संस्कृत
कौड़ी	कवड्डिआ	कपर्दिका
मोती	मोत्तिय	मौक्तिक
भीत	भित्त	भित्ति
ओठ/होठ	ओट्ट	ओष्ठ
आँख	अक्ख	अक्षि

जहाँ तक हिन्दी के देशी/देशज शब्द-भंडार का प्रश्न है, उसका विकास-सूत्र संस्कृत से नहीं जोड़ा जा सकता। आदतन हम उसका संबंध संस्कृत से स्थापित करने का असफल प्रयास करते रहते हैं। ऐसे शब्द या तो किसी और स्रोत से² या फिर हिन्दी में ही किसी तरह 'नदी के द्वीप' की तरह उभर आये हैं।¹

सचाई तो यह है कि देशी/देशज शब्द, देश-सापेक्ष के साथ-साथ काल-सापेक्ष भी है। कभी यह नाम 'देशी भाषा' 'प्राकृत' को मिला तो कभी अपभ्रंश को, कहीं और कभी अवधी, ब्रजभाषा, मगही, भोजपुरी और अंगिका को भी। ज्ञातव्य है कि अंगजनपद के भोजपुरी-भाषी इस जनपद की स्थानीय भाषा/बोली 'अंगिका' को 'देशी' ही कहते हैं। इस धारणा के विपरीत संस्कृत और प्राकृत के विद्वान् आचार्य हेमचंद्र के मतानुसार, "अनादि काल से प्रचलित प्राकृत भाषा ही देशी है।"⁴ उनके अनुसार, जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत-कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणा-शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, देशी कहलाते हैं।⁵ डॉ. भोलानाथ तिवारी इसे देशी/देशज कहने के बजाय 'अज्ञात व्युत्पत्तिक' कहना उचित समझते हैं...⁶ देशज माने जानेवाले शब्द देशज हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि ये अज्ञात व्युत्पत्ति के हैं। अतः इन्हें अज्ञातव्युत्पत्तिक कहना ही मेरे विचार में वैज्ञानिक है, क्योंकि यह असंभव नहीं कि इनमें अनुकरणात्मक, दूसरी भाषाओं से गृहीत तद्भव या यहाँ तक कि यद्यपि बहुत ही कम तत्सम शब्द छिपे हों। हम जानते हैं कि हेमचंद्र द्वारा स्वीकृत देशज शब्दों में अनेक तद्भव या विदेशी सिद्ध हो चुके हैं।⁶

हिन्दी में कुछ ऐसे देशज शब्द प्रचलित हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकती। ऐसे शब्दों का सीधा संबंध मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा, विशेषतः प्राकृत से प्रमाणित होता है। ये शब्द हैं — उथल-पुथल, उलटा, उड़ीस, उड़द, ऊबना, ओढ़ना/नी, ओजदार/ओझराहा, कहार, कोयला, कोल्हू, खिड़की, चावल, झमेला, झाड़, झूठ, ठल्ला (निठल्ला), डाली, डौआ, ढेकी, ढकनी, तागा इत्यादि।

उत्थल्ल-पत्थल्ल (प्रा.) > उथल-पुथल (हि.)

संस्कृत में इसके लिए विपर्ययः, विपर्यासः, पार्श्वद्वयेन, परिवर्तनम् इत्यादि शब्द चलते हैं; और जाहिर है, इनमें से एक भी 'उथल-पुथल' से संबद्ध प्रतीत नहीं होता। इसके विपरीत, प्राकृत से इसका सीधा और सहज संबंध ठहरता है।

‘उथल-पुथल’ हिन्दी का युग्म देशज-शब्द, है, जो प्राकृत में युग्म रूप में ही प्रचलित है। प्राकृत ‘उत्थल्ल’ से हिन्दी ‘उथल’ का विकास कतिपय साधारण, पर स्वाभाविक ध्वनि-परिवर्तनों की परिणति है; यथा - प्राकृत में क्षतिपूरक दीर्घीकरण (compensatory Lengthening) ध्वनि-परिवर्तन नियम के अनुसार ‘त्थ’ हो गया है, जो हिन्दी में मुख-सुख या उच्चारण-सौकर्य-नियम के अंतर्गत ‘त्’ के विलोप से सिर्फ ‘थ’ रह गया। भाषा-जगत् में मानव-संसार की ही तरह ‘निर्बल’ का अस्तित्व संकट-ग्रस्त रहता है। ‘उत्थल्ल’ में ‘थ’ के मुकाबले ‘त’ ध्वनि कमजोर है, इसलिए हिन्दी तक आते-आते लुप्त हो गयी। यही नियम ‘ल्ल’ के ल्-विलोप में लक्षित किया जा सकता है। यहाँ एकमात्र ध्वनि-परिवर्तन-नियम ‘लोप’ काम कर रहा है।

‘पत्थल्ल’ से ‘पुथल’ की विकास-यात्रा में ‘लोप’ के साथ-साथ आगम (स्वरागम) नियम भी काम कर रहा है। ‘लोप’ नियम के तहत जहाँ ‘त’ तथा ‘ल’ ध्वनियाँ (व्यंजन) लुप्त हुई हैं, वहाँ आगम के तहत ‘प्’ में ‘ उ ’ (उ) स्वर ध्वनि का आगम हुआ है।

इस तरह, ‘उत्थल्ल-पत्थल्ल’ से ‘उथल-पुथल’ की भाषिक विकास-यात्रा बिलकुल सहज प्रतीत होती है।

उल्लुटं (प्रा.) > उलटा (हि.)

प्रो. रामसरूप शास्त्री के ‘आदर्श हिन्दी-संस्कृत शब्द-कोशः’ में ‘उलटा’ के लिए संस्कृत समानार्थक ‘उल्लुठनम्’ मिलता है। प्राकृत ‘उल्लुटं’ का विकास-सूत्र इससे जोड़ा जा सकता है। लेकिन, ‘उलटा’ से जो अर्थ ध्वनित होता है, वह ‘उल्लुठनम्’ से नहीं।

‘उल्लुटं’ से ‘उलटा’ की व्युत्पत्ति बिलकुल सहज है। ‘ल्’ एवं अनुस्वार का लोप तथा ‘आ’ के रूप में अंत्य स्वरागम-इन दो नियमों के तहत ‘उलटा’ की भाषिक विकास-प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

इस विकास-प्रक्रिया की उल्लेखनीय विशेषता अंत्य अनुस्वार का ‘आ’ में बदल जाना, या यों कहें कि अनुस्वार की जगह ‘आ’ का आगम है। विसर्ग की ‘आ’ या ‘ओ’ में परिणति तो स्वाभाविक है; क्योंकि दोनों का उच्चारण-स्थान ‘कंठ’ (अकुह-विसर्गनीयानां कण्ठः) है; जैसे - दारोगः (तुर्की) > दारोगा (हि.), किनारः (फा.) > किनारा (हि.) आदि।

विदेशी स्रोत से आये विसर्ग के रूप में हकारान्त उपरिलिखित शब्द हिन्दी तक आते-आते ‘आ’ कारान्त हो गये हैं। इसी तरह, संस्कृत मूल के विसर्गान्त शब्द भी ‘आ’ कारान्त में बदल जाते हैं; यथा - पुनः रचना > पुनारचना, अन्तःराष्ट्रिय > अन्ताराष्ट्रिय (तत्सम) विसर्गान्त का ‘आ’ कारान्त में बदलना भी देखा जा सकता है। जैसे - छन्दः विधान > छन्दोविधान, मनःरथ > मनोरथ, यशः दा > यशोदा इत्यादि। इसके विपरीत, अनुस्वारान्त का विशुद्ध ‘आ’ कारान्त में परिवर्तन सुदुर्लभ है। हाँ आदि अनुस्वार/अनुनासिक्य का अनुनासिक्यान्त में परिवर्तन सहज है; जैसे - भण्ड > भाँड, मण्ड > माँड आदि।

उड्डसो (प्रा.) > उड़ीस (हि.)

इस रक्तपायी तुच्छ जीव को संस्कृत में 'मत्कुणः' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'खटमल' भी कहते हैं। जाहिर है, हिन्दी का 'उड़ीस' शब्द 'मत्कुणः' से व्युत्पन्न नहीं है। इसका सीधा विकास प्राकृत 'उड्डसो' से लक्षित होता है। 'ड' का लोप, फिर बिन्दु से युक्त होकर मुख-सुख के कारण 'ड' का 'ड़' बनाना, उसमें 'ी' (ई) का आगम और अंत में अंत्य स्वर ध्वनि 'ी' (ओ) लोप - इस तरह 'उड्डसो' से 'उड़ीस' की भाषिक विकास-प्रक्रिया संपन्न होती है।

कोशकार प्रो. रामसरूप शास्त्री ने 'उड़ीस' का भाषिक विकास संस्कृत-शब्द 'उद्दंश' से माना है। इसका संभावित विकास-क्रम, मेरे विचार से, कुछ यों होना चाहिए - उद्दंश > उड्डंस > उड्डुस > उडुस > उडीस > उड़ीस। 'उद्दंश' का शाब्दिक अर्थ ऊँचा दंश (डाँस) वाला होता है। दंश तो मारता है, पर यह ऊँचा होता नहीं। 'उड़ीस' के लिए 'उद्दंश' शब्द मुझे कहीं और नहीं मिला। हो सकता है, प्रो. शास्त्री ने 'उड़ीस' के सादृश्य (Analogy) पर यह शब्द गढ़ा हो। ऐसे कितने ही शब्द हिन्दी और संस्कृत - दोनों में गढ़े गए हैं। हिन्दी में आचार्य रघुवीर ने इसी तरह के ढेर सारे पारिभाषिक शब्द गढ़े हैं। स्वयं संस्कृत में शब्दकारों ने ऐसे कतिपय शब्द निर्मित किये हैं। उदाहरण के लिए - 'पुस्तक' और 'गोजिहवा'। 'पुस्तक' मूलतः संस्कृत शब्द नहीं है, जबकि सारे लोग इसे संस्कृत का मानते हैं। यह विदेशी श्रोत (पहलवी) के 'पोस्त' (लेखन-चर्म) शब्द से व्युत्पन्न है। पहले लेखन-कर्म चमड़े पर होता था, इसी बात का साक्षी है यह शब्द। दूसरा शब्द 'गोजिहवा' भी विदेशी मूल (पुर्तगाली) के शब्द 'गोभी/बी 'या' कोबी' का परवर्ती संस्कृत-रूपांतरण है। आचारनिष्ठ लोग भोजन में इसका सेवन वर्जित मानते रहे। उनके अनुसार, यह 'गौ' माता की कटी हुई जीभ का वानस्पत संस्करण है।

इसी तरह, देशी शब्द 'उड़ीस' का विकास प्राकृत के 'उड्डसो' से ही प्रतीत होता है।

उडिदो (प्रा.) > उड़द (हि.)

यह एक प्रकार की दलहन है, जिसे हिन्दी में 'कलाय' और संस्कृत में 'माषः' कहते हैं। प्रो. रामसरूप शास्त्री ने पता नहीं कहाँ से इसके लिए 'ऋद्ध' शब्द खोज निकाला है। मुझे फिर कहना होगा कि हिन्दी शब्द 'उड़द' 'ऋद्ध' से नहीं, बल्कि स्वयं 'ऋद्ध' शब्द 'उड़द' के सादृश्य (वजन) पर बना है। 'माषः' से इसका दूर का भी संबंध नहीं ठहरता। अंत में बचता है - प्राकृत शब्द 'उडिदो'। हिन्दी 'उड़द' या 'उड़ीद' प्राकृत 'उडिदो' की स्वाभाविक संतति प्रतीत होती है। 'ड' का 'उडिदो' के 'डि' में से पहले 'ि' (इ) का लोप, फिर बिन्दु युक्त होकर 'ड़' बनना और आखिर में 'दो' के 'ी' (ओ) का लोप और इस तरह 'उड़द' शब्द बन जाता है। 'उड़ीद' की विकास-प्रक्रिया तो और भी सहज है।

उव्वाओ (प्रा.) > ऊबना/उबाना (हि.)

हिन्दी का खिन्नार्थक अकर्मक क्रिया-पद 'ऊबना' या 'उबाना' प्राकृत 'उव्वाओ' से विकसित प्रतीत होता है। कोई-कोई इसका संबंध अवधी 'ओबा' (एक प्रकार की बीमारी)

से बताते हैं, जो युक्ति-संगत नहीं। प्राकृत 'उव्वाओ' से 'ऊबना' या 'उबाना' की भाषिक विकास-यात्रा कहीं ज्यादा सहज प्रतीत होती है। द्वित्व 'व' का लोप, 'वा' में से 'ा' (आ) का लोप (उबाना में नहीं), फिर 'ओ' के स्थान पर 'ना' का आगम होने से हिन्दी का देशज शब्द 'ऊबना' बनता है।

ओड्डणं (प्रा.) > ओढ़ना/नी (हि.)

इसके लिए संस्कृत में 'उत्तरीय' शब्द चलता है, जबकि अंगरेजी में रैपर (Wrapper)। यह क्रिया के साथ-साथ संज्ञा भी है। 'नी' लगाकर इसे ऊनार्थक (Diminutive) स्त्रीलिंग रूप दिया गया है। जो हो, 'उत्तरीय' और 'ओढ़ना/नी' के बीच कहीं कोई भाषिक तारतम्य नहीं मिलता। इसके विपरीत 'ओढ़ना', 'ओड्डणं' के काफी करीब ठहरता है। इसका विकास-क्रम यों बनता है - 'ड' का लोप, मुख-सुख के कारण 'ढ' का बिन्दु-युक्त होकर महाप्राण घोष मूर्द्धन्य उत्क्षिप्त स्पर्शी ध्वनि 'ढ' में तब्दील हो जाना, 'णं' की अनुनासिक्यता की जगह विवृत स्वर 'आ' का आगम या अनुस्वार की 'आ' में अज्ञातरूपेण परिणति। अंत में मूर्द्धन्य ध्वनि 'ण' का उच्चारण-सौकर्य के आधार पर 'दंत्य' 'न' में परिवर्तन।

प्रो. रामसरूप शास्त्री द्वारा 'ओढ़ना' के लिए 'आ+ऊढ़' शब्द की दूरारूढ़ कल्पना से कोई अंतर पड़नेवाला नहीं है।

लगे हाथ, ज्ञातव्य है कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा उत्क्षिप्त (ध्वनि) 'ढ' को हिन्दी की अपनी नई ध्वनि मानते हैं, जबकि डॉ. भोलानाथ तिवारी के अनुसार, इसका विकास ईसा की पहली सदी, अर्थात्, प्राकृत-काल में हो गया था।⁸

ओज्झर (प्रा.) > ओज्झर/ओझराहा (हि.)

संस्कृत में इसके लिए 'अंत्रावरणम्' शब्द मिलता है। लेकिन, इससे 'ओज्झर' या 'ओझराहा' का कोई संबंध-सूत्र जुड़ता नजर नहीं आता। हिन्दी में 'ओज्झर' या 'ओझराहा' शब्द का अर्थ 'उलझा हुआ' (Confused/intermingled/intricate) या 'उलझाने वाला' (व्यक्ति या काम के अर्थ में) होता है। 'ओज्झर' से, 'ओज्झर' के विकास में तो नहीं, हाँ 'ओझराहा' के विकास में 'ज्' का लोप 'रा' में 'ा' (आ) के आगम के साथ-साथ अंत्य व्यंजन 'हा' (प्रत्ययमूलक) का आगम हुआ है, जो स्वाभाविक है।

काहारो (प्रा.) > कहार (हि.)

हिन्दी का जातिवाचक शब्द (पानी आदि ढोनेवाली जाति) 'कहार' प्राकृत के 'काहारो' का सहज सरलीकृत रूप है। इसके विपरीत जहाँ डॉ. भोलानाथ तिवारी ने इसका संबंध संस्कृत शब्द 'स्कंधभार' से जोड़ा है, वहाँ प्रो. रामसरूप शास्त्री ने 'कंहार' से।¹⁰ दोनों ने ही दूर की कौड़ी लाने का प्रयास किया है। डॉ. तिवारी ने 'स्कंधभार' से 'कहार' बनने की भाषिक प्रक्रिया का बिलकुल संक्षेप में उल्लेख किया है - सिर्फ तीन अवस्थाएँ। मेरे अनुसार संभावित क्रम यों हो सकता है - स्कंधभार > कंधभार > कन्हहार > काहार > कहार। और भी, लंबी प्रक्रिया हो

सकती है। मुझे ऐसा लगता है कि प्रो. तिवारी ने 'कहार' के सादृश्य पर संभावित शब्द 'स्कंधभार' गढ़ लिया है। यह शब्द संस्कृत में दरअसल मिलता नहीं है।

प्रो. रामसरूप शास्त्री का 'कंहार' (कं=जल, हार=ढोनेवाला) तो और भी कल्पित लगता है। इसकी तुलना में प्रो. तिवारी का 'स्कंधभार' कहीं ज्यादा संगत प्रतीत होता है। पर, दोनों ही शब्द कृत्रिम प्रतीत होते हैं।

कोइला (प्रा.) > कोयला (हि.)

संस्कृत में इसके लिए 'काष्ठांगार', 'कृष्णांगार', 'दग्धकाष्ठ' इत्यादि शब्द प्रचलित हैं। इनमें से किसी शब्द से 'कोयला' की व्युत्पत्ति नहीं साधी जा सकती। अलबत्ता प्राकृत 'कोइला' से हिन्दी 'कोयला' का विकास स्वाभाविक प्रतीत होता है। मध्यवर्ती 'इ' से 'य' और 'य' से 'इ' बनने की प्रवृत्ति सामान्य है; जैसे - अजवायन > अजवाइन, अजवाइन > अजवायन, भाई > भाय, माई (भोजपुरी) > माय, डायन > डाइन इत्यादि।

कोल्हुओ (प्रा.) > कोल्हू (हि.)

इसे संस्कृत में 'तेलपेषणी' 'तिलपेषण यंत्र', 'इक्षु-रसालउ तैल-पेषणी', 'निपीडनयंत्र', इत्यादि शब्द चलाते हैं। परन्तु, इनमें से किसी से भी 'कोल्हू' की व्युत्पत्ति नहीं हो सकती है। यह तो प्राकृत 'कोल्हुओ' से ही विकसित प्रतीत होता है। 'हु' का दीर्घीकरण तथा 'ओ' का विलोप जैसे मामूली ध्वनि-परिवर्तनों के बाद 'कोल्हू' शब्द अस्तित्व में आ गया।

खडक्की (प्रा.) > खिड़की (हि.)

संस्कृत में इसके लिए 'लघुद्वारम्', 'गवाक्षः', 'वातायनः' इत्यादि अपेक्षाकृत प्रचलित शब्द हैं। प्रो. रामसरूप शास्त्री ने एक और संभावित शब्द 'खटिक्का' का प्रयोग किया है, जिससे हिन्दी शब्द 'खिड़की' का विकास बताया जा सके। मगर, यह शब्द प्रचलन में नहीं दीखता। इस तरह, 'खिड़की' प्राकृत शब्द 'खडक्की' से विकसित प्रतीत होती है। जिस तरह 'ढ' में बिन्दु लगाकर उत्क्षिप्त ध्वनि 'ढ' बनती है, उसी तरह 'ड' में बिन्दु लगाकर अन्य उत्क्षिप्त 'ड़' का विकास होता है। 'खडक्की' के 'ड' से 'खिड़की' के 'ड़' की विकास-यात्रा यही सिद्ध करती है। 'ख' में 'ि' (इ) का आगम तथा अंत्य द्वित्व व्यंजन 'क्क' में से प्रथम 'क्' का लोप होने से 'खिड़की' शब्द की व्युत्पत्ति निष्पन्न होती है।

इसीतरह, प्राकृत 'खड्डा' से हिन्दी 'खड्डा' (गड्डा) का भी सीधा विकास हुआ है।

चाउल (प्रा.) > चावल (हिं)

इसे संस्कृत में 'तण्डुलः' कहते हैं जिससे हिन्दी शब्द 'चावल' का दूर का भी सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिए पूरी संभावना है कि यह प्राकृत 'चाउला' का ही विकसित रूप है। मध्यवर्ती उ > व की विकास-प्रवृत्ति असहज नहीं लगती। हिन्दी में इसकी उलट क्रिया मिलती है; जैसे — राव > राउ, ठाँव > ठाँउ आदि।

झमालं (प्रा.) > झमेला (हि.)

‘झमेला’ हिन्दी का देशज शब्द है, जो बखेड़ा, परेशानी आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कहना न होगा कि यह भी प्रकृत ‘झमालं’ का किञ्चित् परिवर्तित/सरलीकृत रूप है। प्राकृत में अंत्य अनुनासिक्य ध्वनि का आकारान्त में परिवर्तन आम प्रवृत्ति है।

इस तरह, झाडं (प्रा.) से झाड़ (हि.), झुटं (प्रा.) से झूठ (हि.) तथा ठल्लो (प्रा.) से ठल्ला (हि.) शब्द विकसित हुए हैं। इनके अतिरिक्त डाली (प्रा.) से डाली (हि.), डोओ (प्रा.) से डौआ (हि.) (लकड़ी के बड़े चम्मच के अर्थ में), ढेंका (प्रा.) से ढेंकी (धान कूटने का यंत्र), ढकनी (प्रा.) से ढकनी (हिन्दी - मिट्टी का छोटा सा बर्तन, अर्थात् सकोरा), तगंग (प्रा.) से तागा (हि.) जैसे शब्दों का बिलकुल सहज विकास हुआ है।

इस अर्थ में हिन्दी प्राकृत की अधिक ऋणी है। उपरिविवेचित देशी शब्दों का विकास यह सिद्ध करता है कि हिन्दी पर प्राकृत का प्रभाव न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से, अपितु भाषिक दृष्टि से अनुपेक्षणीय है।

1. हिन्दी भाषा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, किताब महल, इलाहाबाद; 1976 ई., पृ. 647।
2. “जॉन बीम्स ने देशज शब्दों को मुख्यत, अनार्य स्रोत से संबद्ध माना”। दृष्टव्य - ए कम्पैरेटिव ग्रामर ऑफ द माडर्न आर्यनलैंग्वेजेज ऑफ इण्डिया।
3. “ये अपने ही देश में बोलचाल से बने हैं - आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना, डॉ. वासुदेवनंदन प्रसाद; भारती भवन, पटना-43, 1989 ई., पृ.148।
4. देशी नाममाला, हेमचंद्र; गुजराती सभा, बम्बई (मुम्बई); वि. सं. 2003; 1.3-4।
5. वही।
6. हिन्दी भाषा, डॉ. भोलानाथ तिवारी; पृ. 659।
7. आदर्श हिन्दी-संस्कृत शब्दकोश, प्रो. रामसरूप शास्त्री; चौखम्बा विद्या-भवन, चौक वाराणसी, 1957 ई.; पृ: 73।
8. हिन्दी भाषा, डॉ. भोलानाथ तिवारी; पृ. 410।
9. वही, पृ. 428।
10. आदर्श हिन्दी-संस्कृत शब्दकोश, प्रो. शास्त्री; पृ. 100।

प्रोफेसर : हिन्दी-विभाग
ति.मा. भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर-812007
(बिहार)

जत्थ य चूयकुसुममंजरिया

जत्थ य चूयकुसुममंजरिया
 हा सा महुरत्तेण व खब्दा
 छप्पयच्छिता कोमलललिया
 दंसणफंसणहिं रसयारी
 वायंदोलणलीलासारो
 सोहइ घोलिरपिंछसहासो
 जत्थ सरे पोसियकारंडं
 दिण्णं हंसेणं हंसीए
 फुल्लामोयवसेणं भग्गो
 खरकंटयणहणिब्भिण्णंगो
 जत्थासण्णवणम्मि णिसण्णो
 ण चरइ हरिणो दूवाखंडं
 जत्थ गंधविसएणं खविओ
 हत्थी परिअंचइ णग्गोहं
 संकेयत्थो जत्थं सुहइ
 अहमेत्तीए तीए सामी

सुयचंचू चुंबणजज्जरिया।
 कहिमि विडेण व वेसा लुब्दा।
 वियसइ मालइ मउलियकलिया।
 मयउ क्को ण वहूमणहारी।
 तरुसाहाए हल्लइ मोरो।
 णं वणलच्छीचमरविलासो।
 सरसं णवभिसकिसलयखंडं।
 चंचू चंचू चुंबंतीए।
 केयइकामिणियाए लग्गो।
 ण चलइ जत्थ खणं पि भुयंगो।
 णारीवीणारवहियकण्णो।
 ण गणइ पारब्बियकरकंडं।
 जक्खीतणुपरिमलवेहविओ।
 फंसइ हत्थेणं पारोहं।
 सोऊणं मंजीरयसइं।
 एवं भणिउं णच्चइ कामी।

घत्ता - तं वणु जोयंतिं मयणकयंतिं भणिउ पत्तफलु भिज्जइ।

समदमजमवंतहं संतहं दंतहं एत्थु णिवासु ण जुज्जइ॥

जसहरचरिउ 1.13

नन्दनवन का वर्णन

उस नन्दनवन में आमों की पुष्पमंजरी शुकों की चोंच के चुम्बन से जर्जरित हो रही थी। हाय, वह पुष्प-मंजरी अपनी मधुरता के कारण खायी जा रही थी, जिस प्रकार लोभी वेश्या कामी पुरुष के द्वारा नष्ट की जाती है। कोमल और ललित मालती अपनी मुकुलित कलियों सहित फूल रही थी और उस पर भौंरे बैठ रहे थे। भला, दर्शन और स्पर्शन में रसीला और मृदुल कौन ऐसा होगा, जो बहुतों का मन आकर्षित न करे? वायु में झूलने की क्रीड़ा को श्रेष्ठ समझनेवाला मयूर एक वृक्ष की शाखा पर झूल रहा है। वह अपने चलायमान पंखों से हास्ययुक्त ऐसा शोभायमान होता था जैसे मानों वनलक्ष्मी का चमर-विलास हो। वहाँ सरोवर में कारण्ड व हंसों का पोषण करनेवाले सरस नये कमल नाल व अंकुरों के खण्डों को हंस अपनी हंसी को दे रहा था और वह अपनी चोंच से हंस की चोंच को चूम रही थी। केतकीरूपी कामिनी का आलिंगन करता हुआ और उसके फूलों की सुगन्ध के वशीभूत हुआ भुजंग तीक्ष्ण कण्टकरूपी नखों से छिन्नांग होकर भी वहाँ क्षणमात्र के लिए भी चलायमान नहीं होता था। वहाँ समीपवर्ती ब्रज (चरागाह) में बैठा हुआ तथा ग्वाल-स्त्री के वीणा की ध्वनि से आकर्षित कर्ण होकर हरिण न तो दूब की घास चरता था और न पारधी के हाथ के बाण की परवाह करता था। वहाँ अपने गन्ध के विषय के वशीभूत हुआ यक्षिणी के शरीर की सुगन्ध से विह्वल होकर हाथी न्यग्रोध (वट) वृक्ष के समीप जाता और अपनी सूँड से उसकी (वट की) जटाओं का स्पर्श करता था। वहाँ नूपुरों की मधुर ध्वनि को सुनकर अपने संकेत-स्थान पर खड़ा हुआ कामी पुरुष यह कहता हुआ नाच रहा था कि मैं ही उस आनेवाली प्रेयसी का प्रेमी हूँ।

उस उपवन को देखकर मदन को जीतनेवाले मुनिराज ने कहा कि यहाँ पत्र और फल तोड़े जा रहे हैं (श्लेष-मुनिरूपी पात्र का संयमरूपी फल भग्न हो रहा है।) अतएव यहाँ शम, दम और यम की साधना करनेवाले सन्त पुरुषों का निवास उचित नहीं है ॥12॥

अनु. — डॉ. हीरालाल जैन

हिन्दी के औपम्य-विधान पर प्राकृत का प्रभाव (विद्यापति के सन्दर्भ में)

— डॉ. प्रतिभा राजहंस



अपभ्रंश के गर्भ से जन्म लेनेवाली भाषा हिन्दी पर अपभ्रंश के साथ-साथ प्राकृत का भी अत्यधिक प्रभाव है। प्राकृत के काव्य-रूप, कवि-परम्पराएँ, नख-शिख-वर्णन, ऋतुवर्णन, शृंगार के दोनों पक्षों के सांगोपांग वर्णन-चित्रण इत्यादि से प्रभावित हिन्दी-काव्य ने उसके भाव को ही नहीं अपनाया, बल्कि कई बार भावों के वर्णन-चित्रण में प्राकृत के औपम्य-विधान को भी हू-ब-हू उसी रूप में ग्रहण किया।

हिन्दी-कवि विद्यापति ने प्राकृत के काव्य-साहित्य से नख-शिख वर्णन के क्रम में अनेक स्थलों पर भाव ग्रहण किए हैं। कहीं उनके भाव प्राकृत साहित्य से कुछ अलग दीख पड़ते हैं तो कहीं प्रायः वैसे-के-वैसे ही मिल जाते हैं -

प्राकृत- अंगं लावण्यपुण्णं सवणपरिसरे लोअणे फारतरे वच्छं थोरत्थणिल्लं
तिवलिवलइअं मुटिट्गेज्झं च माज्झं । चक्काआरो निअम्बो तरुणिमसमए किंणु अण्णेण
कज्जं पज्जेहिं चेउ बाला मअणजअमहावेजअन्तीअ होन्ति ॥'

अर्थात् युवावस्था में सुन्दरियों का शरीर लावण्य से भरपूर हो जाता है, आँखें भी आकर्षक और बड़ी लगने लगती हैं, वक्षस्थल खूब उभर आते हैं, कमर पतली हो जाती है तथा उस पर त्रिवलियाँ पड़ जाती हैं। नितम्ब भाग खूब सुडौल और गोल हो जाता है।

विद्यापति (मैथिली) -

कामिनी कोने गढ़ली ।
रूप सरूप मोहि कहइते असम्भव,
लोचन लागि रहली ।
गुरु नितम्ब भरे चलए न पारए,
माझ खीनी मनि माइ ।
भाँगि जाइति मनसिजे धरि राखलि,
त्रिबलि लता उरझाई ।^१

अर्थात् किसने ऐसी कामिनी की रचना की? यथार्थ रूप कहना मुझे असम्भव लगता है। वह तो आँखों में लगी रह गई। गुरु नितम्ब के भार से वह चल नहीं सकती है। मध्य भाग समाप्त प्रायः लगता है। टूट जाएगी, यह सोचकर कामदेव ने त्रिवली रूपी लता में उलझाकर बाँध रखा है।

सुन्दरी युवती के सौन्दर्य-चित्रण में दोनों ही स्थलों पर भाव प्रायः एक से हैं। विद्यापति ने कमर टूट जाने की आशंका प्रकट करके और त्रिवली की लताओं से बाँधकर उसे अपनी कवित्व-कला से अनुपम सौन्दर्य प्रदान कर दिया है। इन पंक्तियों में कामदेव द्वारा प्रकट की गई सहृदयता के विषय में तो कहना ही क्या? त्रिवलियों पर लता का आरोप भी भावानुरूप सुन्दर बन पड़ा है।

इसी प्रकार, अन्यत्र भी दोनों के भाव मिलते-जुलते दिखाई पड़ते हैं। प्राकृत-साहित्य की विश्वविजयिनी कामिनी विद्यापति के साहित्य में भी दीख पड़ती है। दोनों ही जगह समान जिज्ञासा बनी हुई है कि इस बाला की रचना किसने की - किसी एक देवता ने या कई ने मिलकर? किस वस्तु से की - चाँद, अमृत या संसार के समस्त सौन्दर्य-सार से? इस तरह की बाला की रचना संभव कैसे हुई ?

विद्यापति के औपम्य-विधान पर प्राकृत-साहित्य का महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। प्रस्तुत पद में प्राकृत कवि महेन्द्र सूरि^३ को अपनी नायिका 'नम्मयासुन्दरी' (नर्मदासुन्दरी) की उपयुक्त उपमा के लिए विविध उपमानों में से कोई भी उपमान नायिका में विद्यमान गुणों के अनुरूप न मिला। इसी प्रकार, विद्यापति को भी नायक श्रीकृष्ण की उपमा के योग्य कोई उपमान नहीं मिल पा रहा है। द्रष्टव्य है -

प्राकृत - घणचंद समं वयणं तीसे जई साहियो सुयणु तुज्झ ।
तो तक्कलंकपंको तम्मि सामारोविओ होई ।
संबुक्कसमं गीवं रेहातिगसंजुय त्ति जइ मणिमो ।
वंकत्तणेण सा दूसिय त्ति मन्नइ जणो सव्वो ।

करिकं भविम्भमं जड़ तीसे वच्छत्थलं जंपामो ।
तो चम्मथारयाफा सफरुसया ठाविया होइ ।
विल्लहलकमलनालोवंमाउ बाहाउ तीएँ जो कहइ ।
तो तिक्खकंट चाहिट्ठयत्तदोसं पयासेइ ।
किंकिल्लिपल्लवेहिं तुल्ला करपल्लवि ति बिंतेहि ।
नियमा निम्मलनहमणिमंडणयं होइ अंतरियं ॥^१

अर्थात् यदि उसके मुख को चन्द्रमा के समान कहा जाए तो चन्द्रमा में कलंक रहता है । अतः मुख पर भी कलंक का आरोप हो जाएगा । यदि शंख के समान उसकी गर्दन कही जाए तो शंख वक्र होता है । अतः उसकी ग्रीवा में भी वक्रत्व आ जाएगा । यदि उसके वक्षस्थल को करिकुम्भ के समान कहा जा तो उसमें रुक्ष स्पर्श का दोष आ जाएगा । उसकी बाहुओं को कमलनाल कहा जाए तो तीक्ष्ण कण्टक कमलनाल में रहने से उसकी बाहुओं में दोष आ जाएगा । यदि हाथ की हथेलियों को अशोक-पल्लव कहा जाए तो भी उचित नहीं है । वस्तुतः नम्मयासुन्दरी (नर्मदासुन्दरी) संसार की समस्त सुन्दर वस्तुओं के सार भाग से निर्मित हुई थी ।

इसी तरह, कविवर विद्यापति श्रीकृष्ण की उपमा ढूँढ़ते-ढूँढ़ते थक जाते हैं । अन्त में, हारकर कह उठते हैं - "तोहर सरिस एक तोहें माधव मन होइछे अनुमाने" । तुलनीय पद द्रष्टव्य है -

माधव कत तोर करब बड़ाई ।
उपमा तोहर कहब ककरां हम, कहितहुँ अधिक लजाई ।
जओ सिरिखण्ड सौरभ अति दुरलभ, तओपुनिकाठ कठोरे ।
जओ जगदीश निसाकर तओ पुनि एकहि पच्छ उजोरे ।
मान-समान अओरे नहिं दोसर, ताकर पाथर नामे ।
कनक कदलि छोट लज्जित भए रहु की कहु ठामक डामे ।
तोहर सरिस एक तोहें माधव मन होइछे अनुमाने १

अर्थात् हे माधव ! तुम्हारी कितनी बड़ाई करूँ । तुम्हारी उपमा जिससे दूँ ? कहते भी लज्जा आती है । यदि चन्दन की दुर्लभ सुगन्ध की बात करूँ तो फिर वह कठोर काठ मात्र है । यदि चन्द्रमा को जगत् का प्रभु माना जाय तो एक ही पक्ष में उजाला रहता है । मणि के समान बहुमूल्य पदार्थ कौन है ? आखिर वह पत्थर ही है । स्वर्ण-कदली होने के कारण ठमक कर रह जाती है । मेरे मन में यह अनुमान होता है कि तुम्हारे समान एक तुम्ही हो ।

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम उदाहरण दसवीं शताब्दी के प्राकृत रचनाकार राजशेखर के सट्टक 'कपूरमञ्जरी' से उद्धृत है और द्वितीय बारहवीं शताब्दी के रचनाकार महेन्द्र सूरि की 'निम्मयासुन्दरी कहा' से । इन रचनाकारों से शताब्दियों के अन्तराल के पश्चात् आनेवाले हिन्दी-भाषा के कवि विद्यापति (1460 विक्रम संवत्) की रचनाओं की शैली, भाव एवं उनका औपम्य-विधान इत्यादि प्राकृत से प्रभावित ही नहीं, बल्कि कहीं-कहीं तो उसकी प्रतिछवि प्रतीत होती है ।

प्राकृत-साहित्य का विद्यापति पर प्रभाव न केवल शृंगार-वर्णन प्रसंग में देखा जाता है, बल्कि विद्यापति की अवहट्ट भाषा में रचित वीररसपरक रचनाओं - 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' पर भी प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

इसप्रकार हिन्दी-काव्य न केवल औपम्य-विधान की दृष्टि से, वरन् वस्तु/भाव-वर्णन-चित्रण के लिहाज से भी प्राकृत-काव्य का आभारी है।

-
1. 'कपूरमन्जरी', राजशेखर; उद्धृत - प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. नेमिचन्द्र जैन; तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1966 ई.; पृ. 417।
 2. विद्यापति पदावली, संपा. - डॉ. नरेन्द्र झा; अनुपम प्रकाशन, पटना; 1986 ई., पृ. 8।
 3. 1187 विक्रम संवत्, अर्थात् 1130 ई.।
 4. नम्मयासुन्दरी कहा, महेन्द्रसूरि; उद्धृत प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 417।
 5. विद्यापति पदावली, सं. - डॉ. नरेन्द्र झा; पृष्ठ. 167।

व्याख्याता हिन्दी विभाग
साहिबगंज कालेज
साहिबगंज (दुमका वि.वि.)
बिहार

‘पउमचरिउ’ के अनूठे तत्वों का अप्रतिम संकलन

— मंजु शुक्ल



‘पउमचरिउ’ अपभ्रंश भाषा का एक बेजोड़ ग्रंथ है जिसमें महाकवि स्वयंभू ने अपनी काव्य प्रतिभा को निराले ढंग से अभिव्यक्त किया है। यूं तो इस ग्रंथ का महत्त्व कई दृष्टियों से है क्योंकि यह अपभ्रंश भाषा में रचित प्रथम रामाख्यानक कृति है जो संस्कृत और प्राकृत की साहित्यिक परम्परा को स्वयं में समेटे हुए है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी इसमें कई ऐसे तत्व हैं जो नितांत मौलिक हैं और इस ढंग से अभिव्यक्त किये गये हैं कि उनकी सारगर्भिता मन को अन्दर तक छू जाती है और इन्हीं ऐसे अनूठे तत्वों से ही संपूर्ण कृति महत्तापूर्ण हो जाती है। ‘पउमचरिउ’ में वर्णित नीतिवचन, संगीत, अर्थशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, उपमाएँ और भी न जाने क्या-क्या स्वयंभू ने इतनी गहनता से व्यक्त किया है कि उसकी विस्तृत व्याख्या करना एक विवशता-सी हो जाती है। ‘पउमचरिउ’ का जो सफर मुनिजनों, तीर्थंकरों की अभ्यर्थना से प्रारम्भ होता है वह आदि-मध्य-अंत में ऐसी तमाम विशेषताओं को खुद में रचे-बसे हैं कि उन पर दृष्टि ठहर-सी जाती है। ऐसी ही इन विशेषताओं को इस आलेख में उकेरने की कोशिश की है। ‘पउमचरिउ’ के संदर्भ में ऐसा संकलन मेरे संज्ञान में नहीं था इसलिये श्रमसाध्य ढंग से इसे अधिक से अधिक उभारने का प्रयास है यह लेख।

‘पउमचरिउ’ में नीतिवचन

‘पउमचरिउ’ में कई स्थल ऐसे हैं, जहाँ पर नीति सम्बन्धी दोहे वर्णित किये गये हैं, यद्यपि समय का अंतराल बहुत बढ़ गया है- आठवीं शती से बीसवीं शती तक, तथापि इन नीतिवचनों

का महत्त्व किसी प्रकार से न्यून नहीं हुआ है। ये आज भी उतने ही प्रासंगिक तथा अर्थपूर्ण हैं जितने आठवीं शती में थे। 'पउमचरिउ' के महत्त्वपूर्ण नीतिवचन संक्षेप में इस प्रकार हैं—
विद्याधर काण्ड

सायंकाल में सरोवर में कुम्हलाये कमलदल को देखकर जिनाधिप कहते हैं —

1. प्रत्येक जन्म लेनेवाले जीव की यही दशा होगी। पूर्वाह्न में जो जीवित दिखाई पड़ता है वही अपराह्न में राख का ढेर हो जाता है। जिस नरश्रेष्ठ को लाखों लोग प्रणाम करते हैं वही प्रभु मरने पर श्मशान में ले जाया जाता है। जिस प्रकार संध्या से यह कमलवन, उसी प्रकार जरा से यौवन नष्ट होता है। यम से जीव, अग्नि से शरीर, समय से शक्ति, विनाश से ऋद्धि नाश को प्राप्त होती है।¹
2. भागते, प्रणाम करते, सोते, खाते तथा पानी पीते हुये शत्रु को मारना उचित नहीं होता है²
3. इस प्रकार जीना चाहिये जिससे कीर्ति फैले, इस प्रकार हंसना चाहिये जिससे लोग हंसी न उड़ा सकें। इस प्रकार भोग करो कि धन समाप्त न हो। इस प्रकार लड़ो कि शरीर को संतोष प्राप्त हो। इस प्रकार त्याग करो कि पुनः संग्रह न हो सके। इस प्रकार बोलो कि लोग प्रशंसा करें। ऐसे चलो कि स्वजनों को ईर्ष्या न उत्पन्न हो। इस प्रकार सुनो जिस प्रकार गुरु के पास रह सको। इस प्रकार मरो कि पुनः गर्भावास में न आना पड़े। इस प्रकार तप करो कि शरीर तप जाये। इस प्रकार राज्य करो कि शत्रु झुक जाये। शत्रु से आंशकित होकर जीने से क्या लाभ? मान से कलंकित जीवन से क्या लाभ? दान से रहित धन से क्या लाभ? वंश को कलंकित करनेवाले पुत्र से क्या लाभ?³
4. अज्ञानी के कानों में जिनवचन, गोठवस्ती के आंगन में उत्तम मणिरत्न, अकुलीन व्यक्ति में सैकड़ों उपकार, चरित्रहीन व्यक्ति के लिए व्रत व्यर्थ।⁴
5. सासैं बहुत बुरी होती हैं वे महासतियों को भी दोष लगा देती हैं।⁵
6. सुकवि की कथा के लिए दुष्ट की मति, कमलिनी के लिए हिमघन तथा अपनी बहुओं के लिए दुष्ट सासैं स्वभाव से शत्रु होती हैं।⁶
7. सासों तथा बहुओं का एक-दूसरे के प्रति बैर अनादिनिबद्ध है। जिस दिन पति इस बात का विचार करेगा, उस दिन बहुत बुरा होगा।⁷
8. स्नेहहीन पत्नी से क्या लाभ? शत्रु को जाननेवाली कीर्ति से क्या लाभ? अलंकार-विहीन सुकवि की कथा से क्या लाभ? कलंक लगानेवाली लड़की से क्या लाभ?⁸
9. शरीर का नाश नहीं करना चाहिये। मृत्यु, ग्रहण और जय सब वीरों की होती है। केवल पलायन करने से लज्जित होना चाहिये जिससे नाम और गोत्र कलंकित होता है।⁹

अयोध्याकाण्ड

1. जो व्यक्ति शस्त्रों को छोड़कर चरणों में आकर गिरता है, उसको मारने से किसी प्रकार यश प्राप्त नहीं होगा।¹⁰

2. ब्राह्मण, बालक, गाय, पशु, तपस्वी तथा स्त्री इन छह को मानक्रिया छोड़कर बचा देना चाहिये ।¹¹
3. अपण्डितों के मध्य एक पल भी ठहरना उचित नहीं होता है ।¹²
4. मानव में कुछ ऐसे व्यसन होते हैं जिन्हें कार्यरूप में परिणत करने से पाप लगता है, ये व्यसन इस प्रकार हैं- रात्रि में भोजन करते हुए मांस-भक्षण करना, मधु तथा मद्यपान करना, जीवों का वध करना, झूठ बोलना, परधन तथा परस्त्री में अनुरक्त होना ।¹³
5. लक्ष्मी किसी के साथ एक कदम भी नहीं गयी है ।¹⁴
6. शत्रुता कभी नष्ट नहीं होती है और न ही जीर्ण होती है । सात जन्मांतरों तक आहत व्यक्ति मारनेवाले को मारता है ।¹⁵
7. पंचेन्द्रियां खल क्षुद्र पाप करनेवाली, नारकीय नरक में प्रवेश करनेवाली, रोग-व्याधि तथा दुःखों को बुलानेवाली, शिव के शाश्वतगमन का निवारण करनेवाली हैं । रूप से पतंग, रस से मछली, शब्द से मृग, गंध के वश से भ्रमर, स्पर्श से मतवाला गज विनाश को प्राप्त होता है परन्तु जो पांचों इंद्रियों का सेवन करता है उसका निस्तार कहीं नहीं होता है ।¹⁶
8. जो व्यक्ति मधु, मद्य तथा मांस का परित्याग करता है, छहों निकायों के जीवों पर दया करता है तत्पश्चात् सल्लेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त होता है वह मोक्ष महापुरी में प्रवेश करता है । जो प्राणी वध करता है तथा मधु-मांस की कथा कहता है- वह चौरासी लाख योनियों में जाता है ।¹⁷
9. जो मनुष्य रात्रि भोजन छोड़ देता है वह विमल शरीर तथा विमल गोत्र प्राप्त करता है । जो सुना हुआ भी नहीं सुनता, देखा हुआ भी नहीं देखता, किसी के द्वारा कहे गये को किसी से नहीं कहता, भोजन में मौन का पालन करता है वह शिव के लिए शाश्वत गमन को देखता है ।¹⁸
10. यदि राजा पौरुषहीन है तो उसका राजा होना व्यर्थ है जिस प्रकार दान से, जिस प्रकार सुकवित्व से, जिस प्रकार शस्त्र से, जिस प्रकार कीर्तन से, सब मनुष्यों की कीर्ति परिभ्रमण करती है, जिस प्रकार जिनवर से भुवन धवल होते हैं । इन बातों में से जिसे एक बात भी अच्छी नहीं लगती है वह जन्मा होकर भी मृत है । व्यर्थ ही उसे यम ले जाता है ।¹⁹
11. जो राजा अत्यंत सम्मान करनेवाला होता है, विश्वास करो कि वह अर्थ तथा सामर्थ्य का हरण करनेवाला होता है । जो मित्र अकारण घर आता है वह दुष्ट स्त्री का अपहरण करनेवाला होता है । जो पथिक मार्ग में अधिक स्नेह प्रदर्शित करता है वह स्नेहहीन चोर होता है । जो मनुष्य निरंतर चापलूसी करता है वह जीव का हरण करनेवाला शत्रु होता है । जो कामिनी कपटपूर्ण चाटुता करती है वह सिररूपी कमल को काटनेवाली होती है । जो कुलवधू कसमों से व्यवहार करती है वह सैकड़ों विद्वरूपतायें करनेवाली होती है । जो

कन्या होकर परपुरुष का वरण करती है वह क्या बड़ी होने पर ऐसा करने से विरत हो जायेगी। इन आठों ही बातों में जो मूढ़ मनुष्य विश्वास करता है लौकिक धर्म की भाँति वह शीघ्र पग-पग में अप्रिय परिणाम प्राप्त करता है।²⁰

12. अकेला भी सिंह अच्छा, मृगसमूह अच्छा नहीं। अकेला भी मृगलांछन (चंद्रमा) अच्छा, परन्तु लांछनरहित तारासमूह अच्छा नहीं। रत्नाकर अकेला ही अच्छा, विस्तारवाला नदियों का समूह अच्छा नहीं। अकेली आग अच्छी, परन्तु गिरिवर और वृक्षों से सहित वन-समूह अच्छा नहीं।²¹

सुंदरकाण्ड

1. शरणागत का आना, बंदी को पकड़ना, स्वामी का कार्य तथा मित्र का परिग्रह, इन कठिन प्रसंगों में जो संघर्ष नहीं करता वह शत-शत जन्मों में भी शुद्ध नहीं हो सकता।²²

युद्धकाण्ड

1. अपहरण की हुई भी दूसरे की स्त्री संसार में अपनी नहीं होती। सज्जन भी यदि प्रतिकूल चलता है तो वह काँटा है, शत्रु भी यदि अनुकूल चलता है तो वह सगा भाई है क्योंकि दूर उत्पन्न भी दवाई शरीर को रोग से बाहर निकाल फेंकती है।²³
2. चोर, जार, सर्प, शत्रु तथा अग्नि, इन चीजों की जो मनुष्य उपेक्षा करता है वह विनाश को प्राप्त होता है।²⁴
3. जो प्रणाम करते हुए शत्रु को मारता है वह क्षत्रिय कुल में आग लगाता है।²⁵

उत्तरकाण्ड

1. वास्तव में मृत्यु उसी की होती है जो अहंकार में पागल है तथा जीवदया से दूर होता है, जो व्रत तथा चरित से हीन होता है; दान तथा युद्धभूमि में जो दीन होता है; जो शरणागत और बंदीजनों की गिरफ्तारी में, गाय के अपहरण में, स्वामी का अवसर पड़ने पर, मित्रों के संग्रह में, अपने पराभव में तथा दूसरे के दुःख में काम नहीं आता, ऐसे मनुष्य के लिए रोया जाता है।²⁶
2. देवताओं, श्रमणों तथा ब्राह्मणों को कभी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये।²⁷
3. धोखा देनेवाला व्यक्ति अवश्यम्भावी रूप से दुःख पाता है।²⁸
4. क्रोध समस्त अनर्थों का मूल है। संसारावस्था का भी मूल क्रोध है। क्रोध दया-धर्म के विनाश का मूल है। क्रोध घोर पाप कर्मों का मूल है। तीनों लोकों में मृत्यु का कारण क्रोध है। नरक में प्रवेश का कारण भी क्रोध है। क्रोध सभी जीवों का शत्रु है।²⁹

'पउमचरिउ' में प्रयुक्त उपमा-विधान'

'पउमचरिउ' में अनेक स्थलों पर कई उपमाएँ प्रयुक्त की गई हैं जो किसी भी संदर्भ को एक विशिष्ट अर्थ तो प्रदान करती हैं साथ ही वर्णन को आलंकारिक सौन्दर्य भी प्रदान करती हैं।

‘पउमचरिउ’ में प्रयुक्त प्रमुख उपमाएँ इस प्रकार हैं -

विद्याधरकाण्ड

- (1) सिंहासन पर विराजमान आदरणीय वीर जिन ऐसे दिखाई दिये जैसे त्रिभुवन के मस्तक पर स्थित शिवपुर में मोक्ष ही परिस्थित हो ।^{१०}
- (2) भौंहों से भयंकर ऊपर की विशाल दृष्टि से नीचे की दृष्टि पराजित हो गयी मानो नवयौवनवाली चंचल चित्त कुलवधू सास के द्वारा डाँट दी गयी हो ।^{११}
- (3) एक दिन समस्त धरती का पालन करनेवाले सगर को उनका चंचल घोड़ा उसी प्रकार अपहरण करके ले गया जिस प्रकार जीव को कर्म ले जाता है ।^{१२}
- (4) तोयदवाहन ने लंकापुरी में प्रवेश किया तथा अविचल रूप से राज्य में इस प्रकार प्रतिष्ठित हो गया जैसे राक्षसवंश का पहला अंकुर फूटा हो ।^{१३}
- (5) अरे पुत्रों, तुम प्रतिरक्षा नहीं करते, मैंने तुम्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, मेरा वह समस्त क्लेश व्यर्थ चला गया उसी प्रकार जैसे पापियों के मध्य धर्म का व्याख्यान ।^{१४}
- (6) रावण के गुण-गणों में अनुरक्त, आयी हुई इन विद्याओं से घिरा हुआ रावण उसी प्रकार शोभित था जैसे ताराओं से घिरा चंद्रमा ।^{१५}
- (7) नायिका का खिला हुआ मुखकमल ऐसा दिखाई देता है जैसे निःश्वासों के आमोद में अनुरक्त भ्रमर उसके पास हों । अनुभूत सुंगंध उसकी नासिका ऐसी प्रतीत होती है मानों नेत्रों के जल के लिए सेतुबंध बना दिया गया हो । सिर के केशों से आच्छन्न ललाट ऐसा प्रतीत होता है मानो जैसे चंद्रबिंब नवजलधर में निमग्न हो ।^{१६}
- (8) रावण ने यम द्वारा फेंके गये तीरों का उसी प्रकार निवारण कर दिया जैसे दामाद दुष्ट ससुराल का करता है ।^{१७}
- (9) सहस्र किरण ने दूर से शत्रुबल को इस प्रकार रोक लिया जिस प्रकार जम्बूद्वीप समुद्रजल को रोके हुए है ।^{१८}
- (10) कट चुका है सिर जिसका तथा जिसके शरीर से रक्त की धारयें उछल रही हैं तथा प्रतिदृच्छा रखनेवाला भट ऐसा दारुण दिखाई देता है जैसे फागुन में सिंदूर से लाल सूर्य हो ।^{१९}
- (11) मनुष्यों के धड़, हाथ तथा पैरों से समरभूमि इस प्रकार भयंकर हो उठी मानो रसोइये ने अनेक प्रकार से यम के लिए रसोई बनाई हो ।^{२०}
- (12) अंजना तथा विद्याधर प्रतिसूर्य (अंजना का मामा) ने हर्षपूर्वक एक-दूसरे का आलिंगन किया, इस अवसर पर अश्रुधारा इस प्रकार प्रवाहित होती है मानों करुण महारस ही पीड़ित हो उठा हो ।^{२१}
- (13) प्रतिसूर्य से हनुमान कहते हैं मेरे जीवित होते तुम विरुद्धों से युद्ध क्यों लड़ोगे, क्या सूर्य-चंद्रमा किरणसमूह के होते हुए धरती पर आते हैं ?^{२२}

- (14) हनुमान को अपनी सेना के साथ रावण ने इस प्रकार देखा मानो पूर्णिमा के दिन चंद्रमा ने आलोकित किरणों से भास्वर तरुण-तरुण को देखा हो।⁴³

अयोध्याकाण्ड

- (1) दशरथ द्वारा राम को युवराज पद देने की घोषणा सुनकर कैकेयी उसी प्रकार संतप्त हो उठती है जिसप्रकार ग्रीष्मकाल में धरती।⁴⁴
- (2) वनवास जाते समय सीता अपने भवन की शोभा का अपहरण करते हुए निकली जो मानो राम के लिए दुःख की उत्पत्ति और रावण के लिए वज्र थी।⁴⁵
- (3) उगता हुआ सूर्य-बिम्ब इस प्रकार शोभा देता है कि जैसे प्रभा से युक्त सुकवि का काव्य हो।⁴⁶
- (4) नरश्रेष्ठों ने सीता और लक्ष्मण सहित राम को इस प्रकार प्रणाम किया मानो बत्तीसों इंद्रों के द्वारा जिनवर को प्रणाम किया गया हो।⁴⁷
- (5) स्वामी राम के मार्ग से राजा भरत उसी प्रकार चला जैसे जीव के पीछे कर्म लगा हो।⁴⁸
- (6) लक्ष्मण तथा राम से विभूषित सीतादेवी वहाँ प्रवेश करती हुई दोनों पक्षों से समान पूर्णिमा की भाँति दिखाई दी।⁴⁹
- (7) लक्ष्मण तथा राम के धवलोज्ज्वल व श्याम शरीर एकाकार हो गये, मानो गंगा तथा यमुना के जल हों।⁵⁰
- (8) दोनों वीर एक ही आसन पर बैठ गये - उसी प्रकार जैसे सूर्य तथा चंद्र आकाश के आँगन में।⁵¹
- (9) सरोवररूपी आकाशतल में राम तथा लक्ष्मण दोनों ने अपनी पत्नियों के साथ इस प्रकार रमण किया मानो रोहिणी तथा रण्णा के साथ चंद्र और दिवाकर हों।⁵²
- (10) रुद्रभूति राम-लक्ष्मण तथा कूबर नरेश के साथ जानकी ऐसी प्रतीत हो रहीं थी जैसे चार समुद्रों से धरती घिरी हुई हो।⁵³
- (11) उन्होंने जानकीरूपी गंगा से युक्त राजा का आस्थानरूपी आकाश देखा, नररूपी नक्षत्रों से घिरा हुआ तथा राम और लक्ष्मणरूपी सूर्य-चंद्रमा से मण्डित।⁵⁴
- (12) लक्ष्मण पत्नीसहित राम के चरणों में इस प्रकार गिर पड़ते हैं जैसे दीपशिखा के साथ तम हो, जैसे दामिनी से गृहीत व्योम हो।⁵⁵

सुंदरकाण्ड

- (1) अंगकुसुम तथा पंकजरागा के मध्य सुंदर अंगोंवाले, कुवलयदल की भाँति दीर्घनयनवाले हनुमान इस प्रकार शोभित हो रहे थे मानो दोनों संध्याओं के मध्य में परिमित दिन हो।⁵⁶

- (2) हनुमान नंदन वन में सीता को कहते हैं — राम तुम्हारे वियोग में उसी प्रकार क्षीण हो गये हैं जैसे चुगलखोरों की बातों से संज्जन पुरुष, कृष्णपक्ष में चंद्रमा, सिद्धि की आकांक्षा में मुनि, खोटे राजा से उत्तम देश, मूर्खमण्डली में कवि का काव्य विशेष, मनुष्यों से वर्जित सुपंथ क्षीण हो जाता है।⁵⁷
- (3) भ्रमरसमूह तथा वियोग-दुःख से संतप्त परमेश्वरी सीता इस प्रकार प्रतीत हो रही हैं मानो समस्त नदियों के मध्य गंगा नदी हो।⁵⁸
- (4) हनुमान ने राम द्वारा भेजी गई अँगूठी नीचे गिरा दी। हर्ष की पोटली की भाँति वह जानकी की गोद में आ गिरी।⁵⁹
- (5) जिस प्रकार प्रथमा विभक्ति शेष विभक्तियों से घिरी रहती है उसी तरह मंदोदरी रावण की दूसरी पत्नियों से घिरी हुई थी।⁶⁰
- (6) राम ने, वट-पेड़ के वरोह की भाँति विशाल अपनी भुजाओं से हनुमान का आलिंगन कर लिया।⁶¹

युद्धकाण्ड

- (1) अंगद राम से कहता है - हे देव, रावण संधि नहीं करना चाहता, उसी प्रकार, जिस प्रकार 'अभी' शब्द के ईकार की स्वर के साथ संधि नहीं होती।⁶²
- (2) ईर्ष्या से भरकर निशाचर ने हनुमान के ऊपर तीर साधा। हनुमान का ध्वज उस तीर से बिंधकर इस प्रकार धरती पर गिरा मानो आकाश रूपी स्त्री का हार टूट कर गिर पड़ा हो।⁶³
- (3) रावण ने जब अपनी चंद्रहास तलवार निकाली तो ऐसा लगा मानो हजारों सूर्यों का उदय हो गया हो।⁶⁴
- (4) रावण की सेना ने राम की सेना का रुख परिवर्तित कर दिया मानो तूफानी हवाओं ने समुद्र-जल की दिशा बदल दी हो।⁶⁵
- (5) भरत स्वयं जिनमंदिर में गया, जो शाश्वत मोक्ष का स्थान हो, तथा जो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो स्वर्ग से कोई विमान ही आ खड़ा हो।⁶⁶

उत्तरकाण्ड

- (1) सुग्रीव भामण्डल तथा भय के मध्य उसी प्रकार स्थित हो गया जिस प्रकार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के मध्य विंध्याचल स्थित है।⁶⁷
- (2) समूची युद्धभूमि और सेना राम तथा रावण के तीरों से उसी प्रकार संतप्त हो उठी जिस प्रकार खोटे मार्ग पर जाती हुई पुत्रियों से दोनों कुल पीड़ित हो उठते हैं।⁶⁸
- (3) युद्धभूमि में लक्ष्मण अपना रथ मध्य में करके इस प्रकार स्थित हो गया मानो राम की विजय ही आकर खड़ी हो गयी हो।⁶⁹
- (4) शोकाकुल रोती-विसूरती हुई स्त्रियों से घिरा हुआ रावण ऐसा जान पड़ता था मानो नव-मेघमालाओं से विंध्याचल सब ओर से घिरा हुआ हो।⁷⁰

- (5) कैकेयीपुत्र भरत ने नमस्कार करते हुए राम के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो लालकमलों के मध्य नीलकमल रखा हुआ हो।¹
- (6) राजा भरत, राम, लक्ष्मण तथा सीता ने एक साथ अयोध्या में इस प्रकार प्रवेश किया मानो धर्म, पुण्य, व्यवसाय और लक्ष्मी ने एक साथ प्रवेश किया हो।²
- (7) राम, सीता तथा लक्ष्मण ने राजकुल में प्रवेश किया। लक्ष्मण गोरे, राम श्यामवर्णीय हैं तथा सीता का रंग सुनहला था। सीता राम तथा लक्ष्मण के मध्य इस प्रकार शोभित हो रही थी मानो हिमागिरि तथा नवमेघों के मध्य रागिनी चमक रही हो।³
- (8) सेनापति ने युद्ध में शक्ति से शत्रु को ऐसा आहत कर दिया मानो रात ने सूर्य को अस्तकालीन पतन दिखाया हो।⁴
- (9) युद्धस्थल में दोनों पक्षों के निरंतर प्रहार से तीरजाल ऐसा प्रवाहित हो उठा मानो हिमाचल तथा विंध्याचल के मध्य में स्थित मेघप्रवाह हो।⁵
- (10) तीरों से आहत, लहुलुहान मधु राजा गजवर पर ऐसा लग रहा था मानो फागुन के माह में पहाड़ पर पलाश का फूल खिला हो।⁶
- (11) राम के समीप सीता देवी उसी प्रकार स्थित थीं जैसे जिनधर्म में जीवदया प्रतिष्ठित है।⁷
- (12) राम लक्ष्मण को रोकते हैं उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो यमुना के प्रवाह को गंगा का प्रवाह रोक लेता है।⁸
- (13) श्वेतोज्ज्वल चक्र लक्ष्मण की हथेली पर इस प्रकार शोभित हो रहा था जैसे कमल के उपर 'कमल' रखा हो।⁹
- (14) परमेश्वरी परमसती सीतादेवी लकड़ियों के ढेर (अग्निपरीक्षा के समय) पर इस प्रकार प्रतीत हो रही थीं मानो व्रत तथा शील के ऊपर स्थित हों।¹⁰
- (15) अग्निपरीक्षा के समय अग्नि नवकमलों से युक्त सरोवर में परिवर्तित हो गयी। सरोवर में एक विशाल कमल उग आया, सीता को सुर-वधुओं ने स्वयं उस कमलरूपी आसन पर बिठाया। उस समय सीता इस प्रकार शोभित हो रहीं थीं मानो कमल के ऊपर प्रत्यक्ष लक्ष्मी ही विराजमान हों।¹¹
- (16) आर्यिकाओं से घिरी हुई सीता ऐसी लग रहीं थीं मानो ताराओं से अलंकृत ध्रुवतारा हो, पवित्रता से आवृत्त शास्त्र की शोभा हो। मानो शासनदेवी ही उतर आयीं हों।

'पउमचरिउ' में वर्णित जैनधर्म तथा संप्रदाय

- विद्याधरकाण्ड की पहली संधि में स्वयंभू द्वारा चौबीस परम जिन तीर्थकरों की वंदना की गई है।¹²
- विद्याधरकाण्ड की पांचवीं संधि में परमजिन मागध भाषा में कहते हैं- मेरे समान केवलज्ञान से संपूर्ण एक ही ऋषभ भट्टारक हुए हैं, तुम्हारे समान छह खण्ड धरती का स्वामी नराधिप

भरत, एक ही हुआ है। तुम्हें छोड़कर दस राजा और होंगे, मेरे बिना बाईस तीर्थकर और होंगे। नौ बलदेव और नौ नारायण, ग्यारह शिव और नौ प्रतिनारायण। और भी उनसठ पुराण पुरुष जिनशासन में होंगे।⁸³ इसके अतिरिक्त दूसरी संधि में एक पंक्ति में दिगम्बर संप्रदाय की ओर भी इंगित किया गया है- आकाश से देववाणी होती है-अरे कूट, कपटी, निर्ग्रथ कापुरुष, परमार्थ को नहीं जाननेवालों, तुम जन्म-जरा और मृत्यु तीनों को जलानेवाले महाऋषियों के इस वेष को धारणकर फल मत तोड़ो, पानी मत पियो, अन्यथा दिगम्बरत्व छोड़ दो।⁸⁴

अयोध्याकाण्ड में पच्चीसवीं संधि के अंतर्गत राम, सीता तथा लक्ष्मण के द्वारा बीस जिनवरों-ऋषभनाथ, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनंदन, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपाशर्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदंत, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शांतिनाथ, कुन्धुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत की अभ्यर्थना की गई है।⁸⁵

इसी काण्ड में बत्तीसवीं संधि के अंतर्गत राम सीता को अवगत कराते हैं- जिनवरों को किन-किन वृक्षों के तले ज्ञान की प्राप्ति हुई। विशाल पीपल के तले ऋषभनाथ को, सत्यवन्त वृक्ष के तले अजितनाथ को, इंद्रवृक्ष के तले संभवनाथ को, सरल वृक्ष के तले अभिनंदन को, प्रियंगु वृक्ष तले सुमतिनाथ, सालवृक्ष के तले पद्मप्रभ, शिरीष वृक्ष तले सुपाशर्व को, नाग वृक्ष के नीचे चंद्रप्रभ, मालती वृक्ष के नीचे पुष्पदंत, कल्पवृक्ष के नीचे शीतलनाथ तथा श्रेयांसनाथ को, पाटली वृक्ष तले वासुपूज्य, जम्बू वृक्ष तले विमलनाथ तथा अश्वत्थ वृक्ष तले अनंतनाथ, दधिवर्ण वृक्ष के नीचे कुन्धुनाथ तथा नंदी वृक्ष के नीचे अरहनाथ, अशोक वृक्ष तले मल्लिनाथ, चम्पक वृक्ष के नीचे मुनिसुव्रत को ज्ञान प्राप्त हुआ था।⁸⁶

इसी काण्ड की अड़तीसवीं संधि के अंतर्गत अवलोकिनी विद्या द्वारा राम-लक्ष्मण का वर्णन जैनधर्मानुसार त्रिषष्टिशलाका पुरुष के रूप में किया गया है- वासुदेव ओर बलदेव से बलपूर्वक सीता का अपहरण कौन कर सकता है? ये त्रेसठ महापुरुषों में से हैं जो यहाँ वनान्तर में प्रच्छन्न रूप से रह रहे हैं। जिनवर चौबीस, आधे अर्थात् बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नौ नारायण तथा नौ प्रतिनाराण। उनमें से ये आठवें बलदेव और वासुदेव हैं।⁸⁷

चालीसवीं संधि में तीर्थकर मुनिसुव्रत की वंदना की गई है।⁸⁸

इसी काण्ड की इकतालीसवीं संधि में जैनधर्म के नियमों की ओर यह वर्णित करते हुए इंगित किया गया है कि - जिनवर के शासन में पांच चीजें अत्यंत विरुद्ध और अविशुद्ध मानी गयी हैं। इनसे जीव नित्यरूप से दुर्गति में जाता है-

1. छह निकाय के जीवों का वध करना।
2. मिथ्यावाद में जाना।
3. दूसरे का धन ले लेना।
4. परकलत्र का सेवन किया जाना।
5. गृहद्वार को प्रमाण लिया जाना।

इन चीजों से जीव को भवसंसार में घूमना पड़ता है। परलोक में भी सुख नहीं है तथा इस लोक में अपयश की पताका फैलती है। स्त्री सुन्दर नहीं होती इसके रूप में यमनगरी ही आ गयी है।⁸⁹

इसके अतिरिक्त भी कुछ स्थलों पर राम-लक्ष्मण के लिए जैन धर्मानुसार बलदेव-वासुदेव विशेषणों का प्रयोग किया गया है, यथा-

- (1) वासुएव - बलएव धणुद्धार। - 2. 21.1
- (2) हरि - वलएव पढुक्किय तेत्तहँ । - 2. 21. 13
- (3) तं विसुणेवि वलेण पजम्पिउ। -2. 23. 3
- (4) वासुएव-वलएव महब्बल। -2. 23. 9
- (5) पुणु संचल्ल वे वि वलएव-वासुएव। -2. 25. 7
- (6) किं वम्भाणु भाणु हरि हलहरु। -2. 25. 18
- (7) जं चिण्हइँ वल-णारायण हुँ। -2. 27. 8
- (8) तं वयणु सुणेप्पिणु अतुल-वलु 'सुणु' लक्खण पचविउ एव वलु। -2. 27. 9
- (9) ओए भवट्टम इस वासुएव वलएव। -2. 38. 7

सुंदरकाण्ड

वलएवें सर-सन्धाणु किउ। -2. 43. 18

पैतालीसवीं संधि में राम को आठवें नारायण के रूप में चित्रित किया गया है-

राम ही वह आठवें नारायण हैं जो रावण के लिए अष्टमी के चंद्र की तरह वक्र हैं। माया-सुग्रीव का जिसने वध किया उसे ही आठवां नारायण कहा गया है।⁹⁰

जैनधर्म में अहिंसा का विशेष महत्व है। चौवनवीं संधि में अहिंसा धर्म के दस अंगों के बारे में बताया गया है -

- (1) जीव दया में तत्पर होना चाहिये।
- (2) मार्दव दिखाना चाहिये।
- (3) सरलचित्त होना चाहिये।
- (4) अत्यंत लाघव से जीना चाहिये।
- (5) तपश्चरण करना चाहिये।
- (6) संयम धर्म का पालन करना चाहिये।
- (7) किसी से याचना नहीं करनी चाहिये।
- (8) ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।
- (9) सत्यव्रत का पालन करना चाहिये।
- (10) मन में समस्त बातों का परित्याग करना चाहिये।

इन समस्त धर्मों को जानना चाहिये, इसी से सुख की प्राप्ति होती है तथा इच्छित फल मिलता है, गृह तथा परिजन अनुकूल होते हैं। इसके बिना सब विमुख हो जाते हैं।¹¹

युद्धकाण्ड

इकहत्तरवीं संधि में रावण जैन मुनि शांतिनाथ का अभिवंदन करता है; इस वंदना से यह अभिव्यक्त होता है कि रावण मुनि के सगुण रूपयुक्त होने के साथ ही उनके निर्गुण रूप की चर्चा करता है।¹²

बहत्तरवीं संधि में भी रावण द्वारा शांति जिनालय में भगवान शांतिनाथ की अभ्यर्थना को दर्शाया गया है।¹³

इसके अतिरिक्त सत्तरवीं संधि में भी राम-लक्ष्मण हेतु बलदेव तथा वासुदेव शब्द का प्रयोग मिलता है-

णिहएँ वासुएव-बलएवें । - 4.7.10

उत्तरकाण्ड

अठहत्तरवीं संधि में राम ने सीता-लक्ष्मण तथा अनुचरों सहित शांतिनाथ भगवान की स्तुति की है।¹⁴

अस्सीवीं संधि में जैनधर्म के मंत्रों का उल्लेख दिया गया है - जो भव्यजनों के लिए धर्म की शुभधारा है उसने ऐसे पांच णमोकार मंत्र का उच्चारण किया, अरहंत भगवान के सात उन वर्णों का उच्चारण किया जो सब सुखों के आदि निर्माता हैं, फिर उसने सिद्ध भगवान के पाँच वर्णों का उच्चारण किया जो शाश्वत सिद्धि को देते हैं, फिर उसने आचार्य के सात वर्णों का उच्चारण किया जो परम आचरण के विचारक हैं, फिर उसने उपाध्याय के नौ वर्णों का उच्चारण किया और सर्वसाधुओं के नौ वर्णों का उच्चारण किया जो संसार के भय को दूर करते हैं। इस प्रकार पैंतीस अक्षर, जो शास्त्ररूपी समुद्र की परम्पराएँ बनाते हैं, जो विष के समान विषम विषयों का नाश करते हैं तथा जो मोक्षनगरी के द्वारों का उद्घाटन करते हैं वे शुभगति प्रदान करें।¹⁵

इक्यासीवीं संधि में सीता की इच्छानुसार राम जिन भगवान की पूजा करते हैं।¹⁶

पचासीवीं संधि में राम के लिए वासुदेव शब्द प्रयुक्त हुआ है।¹⁷

सत्तासीवीं संधि में आदरणीय ऋषभनाथ की चरणभक्ति निर्गुण ढंग से की गई है- जो सचराचर धरती को छोड़कर तीनों लोकों के ऊपर विराजमान हैं। जिनका नाम शिव, शम्भु और जिनेश्वर हैं, देवदेव महेश्वर हैं, जो जिन, जिनेंद्र, कालंजय, शंकर, स्थाणु, हिरण्यगर्भ, तीर्थंकर, विधु, स्वयंभू, सद्धर्म, स्वयंप्रभु, भरत, अरुह, अरहंत, जयप्रभ, सूरि, ज्ञानलोचन, त्रिभुवनगुरु, केवली, रुद्र, विष्णु, हर, जगद्गुरु, सूक्ष्मसुख, निरपेक्ष परम्पर, परमाणु परम्पर, अगुरु, अलघु, निरंजन, निष्कल, जगमंगल, निरवयव और निर्मल है। इन नामों से जो भुवनतल में देवताओं, नागों तथा मनुष्यों के द्वारा संस्तुत्य हैं, तुम उन परम आदरणीय ऋषभनाथ के चरणयुगलों की भक्ति में अपने को डुबा दो।¹⁸

अट्ठासीवीं संधि में लक्ष्मण के लिए आठवें वासुदेव शब्द का प्रयोग किया गया है।¹⁹

‘पउमचरिउ’ में गुंजायमान संगीत तथा नृत्य

विद्याधरकाण्ड

- (1) दूसरी संधि, अभिषेक के प्रारंभ होने की भेरी बजा दी गयी। देवों के अनुचरों के हाथों से तड़ित पटह भी बजने लगे। किसी ने चार प्रकार के मंगलों की घोषणा की। किसी ने स्वर-पद और ताल से युक्त गान प्रारम्भ कर दिया। किसी ने सुंदर वाद्य बजाया जो बारह ताल और सोलह अक्षरों से युक्त था। किसी ने भरत नाट्य प्रारम्भ किया जो आठ भावों से युक्त था। किसी ने बड़े-बड़े स्तोत्र प्रारम्भ कर दिये। किसी ने वेणु, किसी ने वर वीणा ले ली। कोई वीणा के स्वर में लीन हो गया।¹⁰⁰

आठवीं संधि में बताया गया है कि रथनूपुर नगर के राजा सहस्रार ने अपनी गायिकाओं के नाम इंद्र की गायिकाओं के नाम के आधार पर रखे थे जैसे- उर्वशी, रम्भा, तिलोत्तमा इत्यादि।¹⁰¹

- (2) तेरहवीं संधि के अंतर्गत रावण की गायन विद्या को वर्णित किया गया है - पूजा करने के बाद रावण ने अपना गान प्रारम्भ किया। वह गान मूर्च्छना, क्रम, कम्प और त्रिगाम, षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत तथा निषाद इन सप्तस्वरों से युक्त था। मधुर, स्थिर तथा लोगों को वश में करने में समर्थ अपनी वीणा से रावण ने मधुर गंधर्व गान किया।¹⁰²

वह संगीत अलंकारसहित सुस्वर, विदग्ध तथा सुहावना था, सुरति तत्त्व की तरह आरोह, अवरोह, स्थायी तथा संचारी भावों से परिपूर्ण था। टीका, राग युक्त था। मंदतार तथा तानयुक्त था। ज्या और जीवन सहित था तथा रागविशेष था।¹⁰³

उन्नीसवीं संधि में भी एक गंधर्व द्वारा गाये जाने वाले गंधर्वमान का उल्लेख किया गया है।¹⁰⁴

- (3) बत्तीसवीं संधि के अंतर्गत राम का वीणा-वादन, सीता का नृत्य तथा लक्ष्मण का गान व्याख्यायित किया गया है - राम सुघोष नाम की वीणा बजाते हैं जो मुनिवरों के चित्तों को भी चलायमान कर देती है जो रामपुरी में पूतन यक्ष द्वारा संतुष्ट होकर उन्हें दी गयी थी। लक्ष्मण लक्षणों से युक्त गीत गाते हैं। सातों ही स्वर तीन ग्राम तथा स्वभेदयुक्त। इक्कीस वरमूर्च्छनाओं के स्थान तथा उनचास स्वर तानें। ताल-विताल पर सीता नाचती हैं। वह नव रस और आठ भावों, दस दृष्टियों तथा बाईस लयों को जानती हैं कि जो भरत मुनि के द्वारा भरत नाट्यशास्त्र में गवेषित हैं। सीता अपनी चौंसठ भुजाओं का प्रदर्शन करती हुई भावपूर्वक नृत्य करती हैं। 2.32.8

1. चौबीसवीं संधि में लोरी गीत का प्रचलन दिखाया गया है तथा इसका रूप बताते हुये कहा गया है कि - ‘हो हो’ लोरी गीत गाये जा रहे थे। 2.24.13

अयोध्याकाण्ड

2. छब्बीसवीं संधि, मंचों पर आलापिनी बज रही है तथा हिंदोल राग गाया जा रहा है।¹⁰⁵

सुंदरकाण्ड

पैतालीसवीं संधि, लक्ष्मीनगर में भूपाल राग में गान हो रहा था।¹⁰⁶

युद्धकाण्ड

एकहत्तरवीं संधि में संगीत को वर्णित करते हुए कहा गया है- भउंद, नंदी, मृंदग, हुडुक्क, ढक्क, काहल, सरूअ, भेरी, झल्लरी, दडिक्क, हाथ की कर्तार सहदुर, खुक्कड, ताल, शंख और संघड, डउण्ट, डक्क, टट्टरी, झुणुक्क, भम्म, किङ्करी, ववीस, वंश, कंस तथा तीन प्रकार के स्वर वहाँ बजाये गये। प्रवीण, वीण तथा पाविया प्रभृति पटहों की ध्वनि अति सुहावनी प्रतीत हो रही थी। उत्तम अंगनायें नृत्य कर रहीं थीं। रावण ने स्वयं वाद्य बजाकर मंगल-गान गाया।¹⁰⁷

बहत्तरवीं संधि में वाद्य यंत्रों का नामोल्लेख किया गया है- दडी, दर्दुर, पटह, त्रिविला, ढड्डडडडहरी, झल्लरी, भम्भ, भम्मीस, कंसाल, मुरव, ढड्विय, धुमुक्क, ढक्क, श्रेष्ठ हुडुक्क, पणव, एक्कपाणि प्रभृति।¹⁰⁸

उत्तरकाण्ड

अट्टहत्तरवीं संधि में उत्साह मंगल तथा धवल गीतों का उल्लेख किया गया है। कत्थक नृत्य का उल्लेख भी क्रमशः आया है।¹⁰⁹

उन्नासीवीं संधि में पुनः कत्थक शब्द प्रयुक्त हुआ तथा बांसुरी का उल्लेख आया है। यहाँ पर बयालीस स्वरों की ध्वनियों, विचित्र मल्लफोड़ स्वरों का भी उल्लेख किया गया है।¹¹⁰

सत्तासीवीं संधि में रावण की मृत्यु पर किंकर्तव्यविमूढ होकर उसके अंतःपुर की सुंदर स्त्रियाँ दुःखाकुल होकर विविध चेष्टायें करती हैं। कोई नृत्य कर रही हैं, कोई वीणा बजा रही है तथा कोई गंधर्व-राग गा रही हैं।¹¹¹

'पउमचरिउ' में व्याख्यायित अर्थशास्त्र

विद्याधरकाण्ड की चौथी संधि में कर-व्यवस्था का वर्णन मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि 8वीं शती में भी कर-व्यवस्था प्रचलित थी। 'पउमचरिउ' में इस व्यवस्था का उल्लेख आपसी वाद-विवाद के संदर्भ में आया है राजा भरत के मंत्रिगण पोदनपुर नरेश बाहुबलि से क्रोधित होकर कहते हैं-यद्यपि यह भूमिमण्डल तुम्हें पिता के द्वारा दिया गया है परन्तु इसका एकमात्र फल बहुचिंता है। बिना कर दिये ग्राम, सीमा, खल और क्षेत्र तो क्या? सरसों के बराबर धरती भी तुम्हारी नहीं है।¹¹²

अयोध्याकाण्ड में अठाईसवीं संधि में अर्थ की महत्ता का वर्णन करते हुये एक ब्राह्मण लक्ष्मण से कहता है- संसार में धन का सम्मान कौन नहीं करता? जिस प्रकार लक्ष्मी के घर में आनंद होता है अर्थ वैसा आनंद देता है। अर्थ विलासिनियों के समूह को प्रिय होता है। अर्थरहित मनुष्य छोड़ दिया जाता है। अर्थ पण्डित है, गुणवान है। अर्थरहित मनुष्य मांगता हुआ घूमता है। अर्थ कामदेव है, अर्थ विश्व में सुभग है। अर्थरहित मनुष्य दीन तथा दुर्भग होता है। अर्थ अपनी इच्छानुसार राज्य का भोग करता है। अर्थरहित व्यक्ति हेतु कोई काम नहीं है।¹¹³

‘पउमचरिउ’ में अभिव्यंजित ‘राजनीतिशास्त्र’

विद्याधरकाण्ड की सोलहवीं संधि में मंत्रियों तथा उनकी संख्या पर चर्चा की गयी है। इस सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्ति अपनी राय प्रकट करते हैं कि मंत्रिमंडल में कितने मंत्री होने चाहिये। पाराशर कहते हैं- दो मंत्री होना उचित है। एक मंत्री से राज्य कार्य नहीं होता। नारद कहते हैं, दो भी नहीं होने चाहिये। एक-दूसरे से मिलकर अनुचित सलाह दे सकते हैं। कौटिल्य कहते हैं- इसमें क्या संदेह है, तीन या चार मंत्रियों की संख्या उचित है। मनु के अनुसार - एक, दो या तीन मंत्रियों से कार्य-सिद्धि नहीं होती अतः बारह मंत्रियों की संख्या उचित है। बृहस्पति के अनुसार सोलह मंत्री उचित हैं। भृगुनन्दन के अनुसार - बीस होने पर कार्य बिना कष्ट के विवेकपूर्ण होता है। इंद्र कहते हैं - एक हजार मंत्रियों के बिना कैसा मंत्र? एक से दूसरे को बुद्धि होती है तथा बिना किसी कष्ट के कार्य की सिद्धि हो जाती है।¹¹⁴

युद्धकाण्ड की सत्तरवीं संधि में राजनीतिशास्त्र के माध्यम से तथ्यों को स्पष्ट किया गया है - राजनीतिशास्त्र इस तथ्य का निरूपण करता है कि अकुशल लोगों से कुशल लोगों को नहीं लड़ना चाहिये। राजा को अपने शासन में पूर्णतया रुचि लेनी चाहिये। शत्रुसेना को बलशाली देखकर, उससे दूर रहना चाहिये। यदि सेना समान स्तर की हो तो थोड़ा-सा युद्धाभ्यास कर लेना चाहिये। यदि सेना बड़ी है तो समर्पण कर देना ठीक है क्योंकि बड़ा राजा छोटे राजा को दबा देता है। इसलिये अवसर देखकर ही कोई कदम उठाना उचित होगा। सज्जन लोगों के साथ लड़ना भी उचित नहीं। प्रयत्नपूर्वक तंत्र को बचाना चाहिये। ‘अर्थशास्त्र’ में पृथ्वीमंडल के ये ही कार्य निरूपित हैं।¹¹⁵

‘पउमचरिउ’ में वर्णित वनस्पतिशास्त्र

विद्याधर काण्ड की प्रथम संधि में दाड़िम, केतकी, पान तथा सुपाड़ी का उल्लेख किया गया है। तीसरी संधि में पुन्नाग, नाग, कर्पूर, केकोल, एला, लवंग, मधुमालती, मातुलिंगी, विडंग, मरियल्ल, जीर, उच्छ, कुंकुम, कुडंग, नवतिलक, पद्माक्ष, रुद्राक्ष, द्राक्षा, खर्जूर, जंबीरी, घन, पनस, निम्ब, हड़ताल, ढौक, बहुपुत्रजीविका, सप्तच्छद, अगस्त, दधिवर्ण, नंदी, मंदार, कुन्द, इन्दु, सिन्दूर, सिन्दी, वर, पाटली, पोप्पली, नारिकेल, करमन्दी, कंधारी, करिमर, करीर, कनेर, कर्णवीर, मालूर, तरल, श्रीखण्ड, श्रीसामली, साल, सरल, हिंताल, ताल, ताली, तमाल, जम्बू, आम्र, कंचन, कदम्ब, भूर्ज, देवदारु, रिद्र, चार, कौशम्ब, सद्य, कोरण्ट, कोंज, अच्चइय, जूही, जासवण, मल्ली, केतकी तथा जातकी वृक्षों का उल्लेख आया है।

चौदहवीं संधि में केदार, अशोक, मालतीमाला, पाटल, पूगफल, बकुल का उल्लेख आया है।

अयोध्याकाण्ड की तेईसवीं संधि में पान का प्रसंग आया है। बत्तीसवीं संधि में पीपल, सत्यवंत, इंद्रवृक्ष, सरल, प्रियंगु, साल, शिरीष, नाग, मालती, कल्पवक्ष, अश्वत्थ, दधिवर्ण, चम्पक वृक्षों का वर्णन किया गया है। अड़तीसवीं संधि में शिंशपा वृक्ष का नाम आया है।

सुंदरकाण्ड की उनचासवीं संधि में मल्लिका, कंकेली, लवलीलता, नारंग, चंपा, तिलक, मालूर मातुलिंग, मालूर, दाख, खजूर, बुंद, देवदारु, कपूर, वट, करीर, खैर, एला, कक्कोल,

सुमन्द, चंदन, वंदन, साहार, कनेर, वृक्षों का नामोल्लेख किया गया है। इक्यावनवीं संधि में इलायची ताड़, सप्तवर्ण, निध्यात, नाग, विडंग, समुत्तुंग, सप्तच्छद, रक्तचंदन, हल्दी, अतिमुक्त, तालेल, शाल, विशालांजन, वंजुल, निंब, मंदार, कुंदेंद, ससर्ज, अर्जुन, सुरतरु, कदलीकदंब, जम्बीर, जम्बूम्बर, लिम्ब, कोशम्भ, खजूर, कयूर, तारूर, न्यग्रोध, तिलक, नागचेल्ली, वया, पुष्पफली, केतकी, माधवी, सफनस, लवली, श्रीखण्ड, मंदागुरु, इत्थिक, सिहिलका, पुवजीव, अरिष्ट, कोज्जय, नारिकेल, वई, हरड, हरिताल, कच्चाल, लावंजय, पिक्क, बंधूर, कोरष्ट, वाणिक्ष, वेणु, तिसंझा, मिरी, अल्लका, चिंचा, मधू, कणियारी, सेल्लू, करीर, करंज, अमली, कंगुनी, कंचना, पारिजात, का उल्लेख आया है।

युद्धकाण्ड - सत्तरवीं संधि में कुंद, शतपत्र, हरसिंगार, बेल, वरतिलक, दमण, मरुअ, पिक्का पुष्पों का उल्लेख हुआ है।

उत्तरकाण्ड - इक्यासीवीं संधि में ताली, मौलश्री, तिलक, सज्जन, अर्जुन, धाय, धव, धामन, हिंताल, अंजन, चिंचणी, चपि, बाँस, विष, बेंत, वंदन, तिमिर, ताम्राक्ष, सिंभली, सल्लकी, सेल, नोमालिय, कक्कोलय, समी, सामरी, शनि, शीशा, पाडली, पोउली, वाहव, मडवा, मालूर, बहुमोक्ष, सिंदी, बहुवृक्ष, कोसम, जामुन, खिंखणी, राइणी, तोरिणी, तुम्बर, नारियल, करंजाल, दामिणी, कृतवासन, पइउल्ल टेसू, वृक्षों का वर्णन किया गया है।

'पउमचरिउ' में वर्णित पशु तथा पक्षी

विद्याधरकाण्ड - तीसरी संधि में मेष, महिष, वृषभ, हाथी, तक्षक, रीछ, मृग, शम्बर, करभ, वराह, अश्व, हंस, मयूर, शशक, हरिण, वानर, बाघ, गज, गेंडा, गरुड, क्रौंच, कारण्डवपर, शुंशुमार, मत्स्य का उल्लेख हुआ है। आठवीं संधि में सियार तथा कौआ का नाम आया है। तेरहवीं संधि में मेंढक तथा चौदहवीं में कोयल का उल्लेख हुआ है।

उत्तरकाण्ड - इक्यासीवीं संधि में डाँस, मच्छर, सिंह, शरभ, मगर, सुअर, हाथी, उल्लू, अजगर, चींटी, दीमक, शृगाल, अलियल्लि; तिरासीवीं संधि में भेड़िया, नवासीवीं संधि में तोते का उल्लेख हुआ है।

'पउमचरिउ' में वर्णित व्याकरण शास्त्र

अयोध्याकाण्ड, सत्ताईसवीं संधि में प्रकृति को प्रतीक बनाकर व्याकरणिक प्रयोग किया गया है, द्रष्टव्य है - राम, लक्ष्मण वन में प्रवेश करते हैं, उन्हें वट वृक्ष दिखाई देता है जो मानो गुरु (उपाध्याय) का रूप धारणकर पक्षियों को सुंदर स्वर-अक्षर पढ़ा रहा हो। कौआ और किसलय 'क-का' उच्चारण करते हैं। वाउली विहंग 'कि-की' कहते हैं। वनमुर्गा 'कु-कू' का उच्चारण करते हैं और भी मयूर 'के-कै' कहता है। कोयल 'को-कौ' पुकारती है। चातक 'कं-कः' उच्चारण करते हैं।¹¹⁶

युद्धकाण्ड - अट्ठावनवीं संधि में एक उक्ति है जो व्याकरण से भी संबंधित है, द्रष्टव्य है - ओजहीन बातों से मैं उतना ही दूर हूँ जिस प्रकार व्याकरण सुननेवाले और संधि करनेवालों से ऊदन्तादि निपात दूर रहते हैं।¹¹⁷

इसी संधि में एक योद्धा व्याकरणिक ढंग से अपना परिचय देता है - यदि तुम 'च' शब्द हो तो मैं उसके लिए समास हूँ।¹¹⁸ इसी संधि में अंगद वापस आकर राम-लक्ष्मण से कहता है कि रावण उसी प्रकार संधि नहीं करना चाहता जिस प्रकार 'अभी' शब्द के ईकार की स्वर के साथ संधि नहीं होती।¹¹⁹

इसी काण्ड में चौसठवीं संधि में भी युद्धस्थल तथा सैनिकों को व्याकरणिक प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया गया है, द्रष्टव्य है - अपने-अपने वाहनों के साथ, वे सेनायें ऐसे भिड़ गयीं मानों व्याकरण के साध्यमान पद ही आपस में भिड़ गये हों। जैसे व्याकरण के साध्यमान पदों में क ख ग आदि व्यंजनों का संग्रह होता है उसी प्रकार सेनाओं के पास लांगूल आदि अस्त्र थे। जैसे व्याकरण में क्रिया और पदच्छेद आदि होते हैं उसी प्रकार सेनाओं में युद्ध हो रहा था। जैसे व्याकरण में संधि तथा स्वर होते हैं उसी प्रकार सेना में स्वरसंधान हो रहा था। जैसे व्याकरण में प्रत्यय विधान होता है उसी प्रकार उन सेनाओं में युद्धानुष्ठान हो रहा था। जैसे व्याकरण में, 'प्र-परा' आदि उपसर्ग होते हैं उसी प्रकार सेनाओं में घोर बाधाएँ आ रही थीं। जैसे व्याकरण में जश् आदि प्रत्यय होते हैं उसी प्रकार उन दोनों सेनाओं में 'यश' (जश्) की इच्छा थी। जिस प्रकार व्याकरण में पद-पद पर लोप होता है उसी प्रकार सेनाओं में शत्रुलोप की होड़ मची हुई थी। जैसे व्याकरण में एकवचन-बहुवचन होता है वैसे ही उन सेनाओं में बहुत-सी ध्वनियाँ हो रही थीं। जिस प्रकार व्याकरण अर्थ से उज्ज्वल होता है उसी प्रकार सेनायें शस्त्रों से उज्ज्वल थीं तथा एक-दूसरे के बल-अबल को जानती थीं। जिस प्रकार व्याकरण में 'न्यास' की व्यवस्था होती है उसी प्रकार सेना में भी थी। जिस प्रकार व्याकरण में बहुत सी भाषाओं का अस्तित्व है उसी प्रकार सेनाओं में तरह-तरह की भाषायें बोली जा रही थीं। जैसे व्याकरण में शब्दों का नाश होता है वैसे ही सेनाओं में विनाशशैली मची हुई थी। उन सेनाओं का लगभग व्याकरण के समान आचरण था। दोनों के चरित में निपात था, व्याकरण में आदि निपात था। सेना में योद्धा अंत में धराशायी हो रहे थे।¹²⁰

'पउमचरिउ' में वर्णित द्यूतक्रीड़ा

सुंदरकाण्ड की पैंतालीसवीं संधि में किष्किंध नगर का वर्णन करते हुए उसी संदर्भ में कहा गया है- उसी नगर में कहीं जुए के पासे पड़े हुये थे जो नाट्यगृह और तमाशे के समान थे।¹²¹

युद्धकाण्ड - बासठवीं संधि में मंदोदरी का पिता मय अपने अगले दिन की रणयोजना को द्यूत प्रतीकों के रूप में अपनी पत्नी से कहता है - कल मैं बहुत बड़ा जुआ (स्फरद्यूत) खेलूँगा। भयंकर रणद्यूत (कडित्त) रचाऊँगा और उसमें अपने अमूल्य जीवन की बाजी लगा दूँगा। चार दिशाओं में चतुरंग सेना को लगा दूँगा, खडिया मिट्टी से लकीर खीचूँगा (खडिया जुत्ति), मैं शत्रु के श्रेष्ठ रथों को आहत कर दूँगा, तलवार रूपी पासा (कत्ति) अपने हाथ में लेकर जयश्री की एक लंबी लकीर खींच दूँगा। सुभटों के धड़ों को इकट्ठा करूँगा तथा शत्रुओं को इस प्रकार खीचूँगा कि उनके पांव ही न रह जायें। मैं दण्डसहित साक्षात् यमराज हूँ।¹²²

'पउमचरिउ' में वर्णित भौगोलिकता

विद्याधरकाण्ड - प्रथम संधि में जम्बूद्वीप, सुमेरु पर्वत; दूसरी संधि में अयोध्या, प्रयाग; पांचवीं संधि में गंगा नदी, साकेत नगर का उल्लेख हुआ है। इनमें से अयोध्या तथा जम्बूद्वीप का प्रयोग एकाधिक स्थलों पर हुआ है।

अयोध्याकाण्ड, छब्बीसवीं संधि में गंगा-यमुना नदी, कोकण, मलय और पाण्ड्य देश, दक्षिण देश; इकतीसवीं संधि में गोदावरी नदी, बत्तीसवीं संधि में जम्बूद्वीप, छत्तीसवीं संधि में कृष्णा नदी तथा क्रौंच नदी, अड़तीसवीं संधि में दक्षिण लवणसमुद्र तथा जम्बूद्वीप का, चालीसवीं संधि में रेवा नदी का उल्लेख हुआ है।

अट्टानवीं संधि में कुशद्वीप, चीरवाहन, वज्जर चीन, छोहार देश, बर्बर, कुल यवन, सुवर्णद्वीप, वेलंधर, हंस तथा सुबेलद्वीप एवं विजयार्ध पर्वत का उल्लेख हुआ है।

सुंदरकाण्ड - चवालीसवीं संधि में जम्बूद्वीप का, अड़तालीसवीं संधि में कावेरी नदी का, छप्पनवीं संधि में पुनः जम्बूद्वीप का वर्णन हुआ है।

युद्धकाण्ड - उनहत्तरवीं संधि में उज्जैन, पारियात्र तथा मालव जनपदों का, इकहत्तरवीं संधि में कर्नाटक, लाट देश, सौराष्ट्र देश, मालव देश तथा महाराष्ट्र का, तिहत्तरवीं संधि में बंगदेश का वर्णन हुआ है।

1. 'पउमचरिउ', 1.5.2।
2. वही, 1.7.9।
3. वही, 1.7.12।
4. 'पउमचरिउ' 1.8.8।
5. वही, 1.19.4।
6. वही, 1.19.4।
7. वही, 1.19.5।
8. वही, 1.19.5।
9. वही, 1.20.1।
10. वही, 2.27.9।
11. वही, 2.27.14।
12. वही
13. 'पउमचरिउ', 2.31.2।
14. वही, 2.33.5।
15. वही, 2.33.7।

16. वही, 2.33.12।
17. वही, 2.34.84।
18. वही, 2.34.8।
19. 'पउमचरिउ', 2.36.5।
20. वही, 2.36.13।
21. वही, 2.38.2।
22. वही, 3,47.6।
23. 'पउमचरिउ', 4.57.1।
24. वही, 4.71.12।
25. वही, 4.71.13।
26. वही, 5.77.2।
27. वही, 5.80.1।
28. वही, 5.88.3।
29. वही, 5.89.10।
30. 'पउमचरिउ', 1.1.8।
31. वही, 1.4.9।
32. वही, 1.5.3।
33. वही, 1.5.8।
34. वही, 1.9.9।
35. वही, 1.9.12।
36. वही, 1.10.3।
37. वही, 1.11.11।
38. वही, 1.15.3।
39. 'पउमचरिउ', 1.17.12।
40. वही, 1.17.13।
41. वही, 1.19.10।
42. वही, 1.20.1।
43. वही, 1.20.2।
44. वही, 2.22.6।

45. वही, 2.23.6।
46. वही, 2.23.12।
47. वही
48. वही, 2.24.8।
49. 'पउमचरिउ' 2.24.11।
50. वही, 2.26.1।
51. वही, 2.26.10।
52. वही, 2.26.14।
53. वही, 2.27.10।
54. वही, 2.28.10।
55. वही, 2,29.8।
56. वही, 3.45.5।
57. 'पउमचरिउ', 3.45.15।
58. वही, 3.49.9।
59. वही
60. वही, 3.49.20।
61. वही, 3.55.12।
62. वही, 4.58.15।
63. वही, 4.64.12।
64. वही, 4.65.6।
65. वही, 4.66.3।
66. वही, 4.63.4।
67. 'पउमचरिउ', 5.75.5।
68. वही, 5.75.11।
69. वही, 5.75.12।
70. वही, 5.76.8।
71. वही, 5.79.1।
72. वही, 5.79.2।
73. वही, 5.79.5।

74. वही, 5.80.8 ।
 75. वही, 5.80.9 ।
 76. 'पउमचरिउ' 5.80.11 ।
 77. वही, 5.81.2 ।
 78. वही, 5.81.7 ।
 79. वही, 5.82.18 ।
 80. वही, 5.83.11 ।
 81. वही, 5.83.14 ।
 82. 'पउमचरिउ', 1.1.6 ।
 83. मागह-भासएँ कहइ भडारउ ।
 मइँ जेहउ छक्खण्ड-पहाणउ । भरह-णराहिउ एक्कु जि राणउ ॥
 पइँ विणु दसंहोसन्ति णरेसर । मइँ विणु वावीस वि तित्थंकर ॥
 णव बलएव णव जि णारायण । हर एयारह णव जि दसाणण ॥
 अण्णु वि एक्कुणसट्ठि पुराणइँ । जिण-सासणे होसन्ति पहाणइँ ॥
 -वही 1.5.9 ।
 84. वही, 1.2.13 ।
 85. वही, 2.25.8 ।
 86. 'पउमचरिउ', 2.32.4,5 ।
 87. वही, 2.38.7 ।
 88. वही, 2.40.1 ।
 89. 'पउमचरिउ' 2.41.6 ।
 90. सच्चउ णारायणु अट्टमउ । दहवयणहोँ चंदु व अट्टमउ ॥
 मायासुगगीउ जेण वहिउ । हलहरु अट्टमउ सो वि कहिउ ॥ वही, 3.45.10
 91. वही, 3.54.15 ।
 92. वही, 4.71.11 ।
 93. वही, 4.72.8 ।
 94. 'पउमचरिउ', 5.78.11 ।
 95. वही, 5.80.13 ।
 96. वही, 5.81.2 ।
 97. वही, 5.85.12 ।

98. 'पउमचरिउ' 5.87.3।
 99. अट्टमु वासुएउ वलएवें । - वही, 5.88.9।
 100. वही, 1.2.4।
 101. वही, 1.8.1।
 102. वही, 1.13.9।
 103. वही, 1.13.10।
 104. वही, 1.19.9।
 105. 'पउमचरिउ' 2.26.7।
 106. 'पउमचरिउ', 3.45.4।
 107. वही, 4.71.6।
 108. वही, 4.72.14।
 109. वही, 5.78.12।
 110. वही, 5.79.4।
 111. 'पउमचरिउ', 5.87.8।
 112. वही, 1.4.4।
 113. वही, 2.28.12।
 114. वही, 1.16.6।
 115. 'पउमचरिउ' 4.70.3।
 116. वही, 2.27.15।
 117. वायरणु सुणन्तहुँ संधि करन्त हुँ ऊदन्ताई-णिवाउ जिह। वही, 4.58.2।
 118. जहिं तुहूँ च-सददु तहिं सो समासु। वही, 4.58.4।
 119. 'पउमचरिउ', 4.58.15।
 120. वही, 4.64.1।
 121. 'पउमचरिउ', 3.45.12।
 122. वही, 4.62.6।
-

उज्जेणिहिं सिप्पा णाम णइ अत्थि

पुणु रायहो भासइ अभयरुइ णियभवणकिलेसकह ॥
 उज्जेणिहिं सिप्पा णइ अत्थि सच्छ गंभीरदह ॥ ध्रुवकम् ॥
 — तडतरुपडियकुसुमपुंजुज्जल पवणवसा चलंतिया ।
 दीसइ पंचवण्ण णं साडी महिमहिलहि घुलंतिया ॥
 जलकीलंततरुणिघणथणजुयवियलियघुसिणपिंजरा ।
 वायाहयविसालकल्लोलगलत्थियमत्तकुंजरा ॥
 कच्छवमच्छपुच्छसंघट्टविहट्टियसिप्पिसंपुडा ।
 कूलपडंतधवलमुत्ताहलजललवसित्तफणिफडा ॥
 णहंतणरिदणारितणुभूसणकिरणारुणियपाणिया ।
 सारसचासभासकारंडविहंडिरहंसमाणिया ॥
 परिघोलिरतरंगंतरमंततरंतणरवरा ।
 पविमलकमलपरिमलासायणरुंजियभमिरमहुयरा ॥
 मंतुवयंठएसतवसंठियतावसवासमणहरा ।
 सीयलजलसमीरणासासियणियरकुरंगवणयरा ॥
 जुज्झिरमयरकरिकरुप्फालणतसियतडत्थवाणरा ।
 पडियफुलिंगवारिपुण्णाणणचाययणियरदिहियरा ॥
 खयचिक्खिल्लखोल्लखणिखोलिरलोलिरकोलसंकुला ।

जसहरचरिउ 3.1

फिर अभयरुचि अपने भवभ्रमण के क्लेशों की कथा राजा मारिदत्त को सुनाने लगा। उसने कहा कि उज्जैनी के समीप स्वच्छ और गम्भीर द्रहों सहित सिप्रा नाम की नदी है। वह अपने तटवर्ती वृक्षों से गिरनेवाले पुष्पों के समूहों से उज्ज्वल है, तथा पवन के कारण तरंगों से चलायमान है; इस कारण वह ऐसी दिखाई देती है मानो पृथ्वीरूपी महिला की लहलहाती हुई पचरंगी साड़ी हो। जलक्रीड़ा करती हुई युवती स्त्रियों के सघन स्तनयुगलों से धुलकर गिरे हुए केशर से वह नदी लाल हो रही है, तथा वायु के थपेड़ों से उठनेवाली विशाल कल्लोलों द्वारा वहाँ मदोन्मत्त हाथी उत्प्रेरित हो रहे हैं। वहाँ कछुओं और मछलियों की पूँछों के संगठन से सीपों के सम्पुट विघटित हो रहे हैं, और तटपर पड़ते हुए श्वेत मुकाफलों सहित जलकणों द्वारा सर्पों के फण सींचे जा रहे हैं। वहाँ का पानी स्नान करती हुई रानियों के शरीर के भूषणों की किरणों से लाल वर्ण हो रहा है। सारस, स्वर्णचातक, भास और कारण्ड तथा कलहकारी हंसों से वह नदी सम्मानित है। वहाँ चंचल तरंगों में लोग चल रहे हैं, रमण कर रहे हैं और तैर रहे हैं तथा स्वच्छ कमलों की सुगन्ध का स्वाद लेते हुए भौरै रुन-झुन करते हुए मँडरा रहे हैं। उसके स्वच्छ तटपर तप में संलीन तापसों के आश्रम मनोहर दिखाई दे रहे हैं, तथा शीतल जल के पवन से आश्वस्त होकर मृगों तथा अन्य वनचरों के समूह विचरण कर रहे हैं। उसके जल में जो मकर और हाथियों का युद्ध हो रहा है उसके कारण हाथियों द्वारा अपनी सूँडों से उछाले हुए जल से तटवर्ती वानर त्रस्त हो रहे हैं। तथा गिरनेवाले फुफकार के जल से मुख भर जाने के कारण चातकों के समूह प्रसन्न हो रहे हैं, उस नदी का तट गड्ढों की कीचड़ से युक्त गहरी खदानों में खेलते और क्रीड़ा करते हुए सूकरों से संकुलित है।

अनु. — डॉ. हीरालाल जैन

जैन अपभ्रंश साहित्य

— डॉ. नीलम जैन

'अपभ्रंश' साहित्यिक भाषा के गौरवशाली पद पर छठी शताब्दी में आसीन हुई। इससे पूर्व भरत के नाट्य शास्त्र में (द्वितीय ई. शती), विमलसूरि के पउमचरिय (3 ई.श.) में पादलिप्तसूरि के तरंगवइकहा आदि में अपभ्रंश के शब्दों का कथंचित् व्यवहार पाया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है अपभ्रंश में प्रथम शती से रचनाएँ होती रही हैं। महत्वपूर्ण साहित्य 8वीं शती से 13-14वीं शती तक रचा गया। इसी कारण अपभ्रंश के 9वीं से 13वीं शताब्दी तक के युग को डॉ. हरिवंश कोछड़ ने 'समृद्धयुग' एवं डॉ. राजनारायण पाण्डेय ने 'स्वर्णयुग' माना है।^१ अपभ्रंश की एक अंतिम रचना है भगवतीदास रचित 'मृगांक लेखाचरित' (16 ई. शती)।

अपभ्रंश साहित्य की समृद्धि का प्रमुख स्रोत जैन आचार्यों के द्वारा रची गई कृतियां ही हैं। इसका ज्ञान पिछले दो-तीन दशकों में श्री चमनलाल डाह्याभाई दलाल, मुनि जिनविजय, प्रो. हीरालाल जैन, डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याये, म.प. हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों के अथक परिश्रमस्वरूप प्राप्त हुआ। अपभ्रंश भाषा के अध्ययन की समस्या एवं धार्मिक परम्परा के फलस्वरूप इस भाषा का साहित्य जैन-भण्डारों में छिपा पड़ा रहा। सम्भवतः इसी कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में जैन अपभ्रंश साहित्य को धार्मिक उपदेश मात्र होने से विशेष महत्व नहीं दिया।^२ आचार्य द्विवेदी ने इसका तर्कपूर्ण खंडन कर इसमें सुन्दर काव्यरूप की उपलब्धि होने से इन्हें स्वीकार किया है - "जैन अपभ्रंश-चरित-काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है वह सिर्फ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र

से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है। स्वयंभू, चतुर्मुख, पुष्पदन्त और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्य-क्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते।... यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुसेगा।^f

इस अपभ्रंश साहित्य का विपुलता का ज्ञान डॉ. नामवर सिंह के इस कथन से पुष्ट होता है - “यदि एक ओर इसमें जैन मुनियों के चिन्तन का चिन्तामणि है तो दूसरी ओर बौद्ध सिद्धों की सहज साधना की सिद्धि भी है। यदि एक ओर धार्मिक आदर्शों का व्याख्यान है तो दूसरी ओर लोक-जीवन से उत्पन्न होनेवाले ऐहिक-रस का रागरंजित अनुकथन है। यदि यह साहित्य नाना शलाका पुरुषों के उदात्त जीवन-चरित से सम्पन्न है तो सामान्य वणिक-पुत्रों के दुःख-सुख की कहानी से भी परिपूर्ण है। तीर्थकरों की भावोच्छ्वसित स्तुतियों, अनुभव-भरी सूक्तियों, रहस्यमयी अनुभूतियों वैभव-विलास की झांकियों आदि के साथ ही उन्मुक्त वन्य जीवन की शौर्य-स्नेहसिक्त गाथाओं के विविध चित्रों से अपभ्रंश साहित्य की विशाल चित्रशाला सुशोभित है। स्वयंभू जैसे महाकवि के हाथों से इसका बीजारोपण हुआ : पुष्पदंत, धनपाल, हरिभद्र, जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन, कनकामर, हेमचन्द्र, सोमप्रभ, जिनप्रभ, जिनदत्त, जिनपद्म, विनयचन्द्र, राजशेखर, शालिभद्र, अब्दुल रहमान, सरह और कण्ह जैसी प्रतिभाओं ने इसे प्रतिष्ठित किया और अंतिम दिनों में भी इस साहित्य को यशःकीर्ति और रइधू जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभावाले महाकवियों का सम्बल प्राप्त हुआ।^f

अपभ्रंश साहित्य को सुरक्षित रखने का श्रेय जैन भंडारों को है। जैन धर्मानुसार किसी ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति किसी भी जैन भंडार में स्वाध्याय के लिए दान देना धर्म-लाभ समझा जाता रहा है। यही कारण है कि अनेकानेक विदेशी एवं देशी विद्वानों के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप पाटण, कारंजा, जैसलमेर, अहमदाबाद आदि के जैन भण्डारों से बहुमूल्य ग्रंथ प्रकाश में आये हैं एवं अनेक ग्रंथ अभी तक अविज्ञात हैं।

जैनाचार्यों ने अपभ्रंश के महान् साहित्य का प्रणयन किया है। इसका कार्यक्षेत्र पश्चिमी भारत, विदर्भ, गुजरात, राजस्थान तथा दक्षिण भारत के प्रदेश रहे हैं। विद्वानों के कथनानुसार श्रावकों के अनुरोध पर जैन आचार्यों ने अपभ्रंश में रचना की। ये श्रावक देशी भाषा से ही परिचित थे। अतः जैन अपभ्रंश साहित्य में जहाँ स्थान वैभिन्न्य के संकेत मिलते हैं वहाँ विषय और काव्यरूपों में भी विविधता दर्शनीय है। जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये साहित्य में महापुराण, पुराण, चरितकाव्य, कथाग्रंथ, रासग्रंथ, उपदेशात्मक ग्रंथ, स्तोत्र आदि विविध विषयात्मक ग्रंथ प्राप्य हैं। महापुराण में पुष्पदंत का तिसट्ठमहापुरिस; पुराण चरितकाव्यों में स्वयंभू के पउमचरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ, पुष्पदंत के णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ, मुनि कनकामर का करकंडचरिउ आदि उल्लेखनीय हैं। कथा-ग्रंथों में (धनपालकृत) भविसयत्तकहा, (अमरकीर्ति कृत), छक्कम्मोकएस (षट्कर्मोपदेश), पज्जुणकहा आदि विशेष महत्व के हैं। रासो ग्रंथों में उपदेश रसायन (जिनदत्तसूरि), नेमिरास (जिनप्रभ), बाहुबलिरास, जंबूस्वामीरास आदि का नाम लिया जा सकता है।

स्तोत्र-ग्रंथों में अभयदेवसूरि के जयतिहुमणस्तोत्र, ऋषभजिनस्तोत्र आदि एवं उपदेशात्मक ग्रंथों में योगीन्द्र के परमात्म प्रकाश, योगसार; मुनि रामसिंह का पाहुडदोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, माहेश्वरसूरि की संयममंजरी आदि अनेक ग्रंथ द्रष्टव्य हैं।

रामकथा से सम्बंधित अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के समान ही जैन विद्वानों ने अपभ्रंश भाषा में भी रामकथा का गुम्फन किया है। आश्चर्य तो यह है कि अपभ्रंश भाषा में जितने भी रामकथा विषयक ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं वे सब जैनमतावलम्बी कवियों द्वारा ही प्रणीत हैं। तीन दशक पूर्व जो अपभ्रंश भाषा में लिखे गये रामकथात्मक ग्रंथ जैन भण्डारों में पड़े हुए थे वे जिज्ञासु अध्येताओं के श्लाघ्य प्रयत्नों से सम्प्रति प्रकाश में आये हैं।

अपभ्रंश में रामकथा सम्बंधी तीन ग्रंथ विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें से दो स्वयंभूदेवकृत पउमचरिउ अथवा रामपुराण (8वीं शती ई.) एवं रइधू रचित पद्मपुराण अथवा बलभद्रपुराण (15वीं शती ई.) विमलसूरि की परम्परा के अन्तर्गत आते हैं और पुष्पदन्तविरचित महापुराण (10वीं शती ई.) गुणभद्र परम्परा में परिगणित किया जाता है।

स्वयंभू अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं। इनकी तीन रचनाएँ पउमचरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ और स्वयंभूछन्द उपलब्ध होती हैं।⁹ इनका 'पउमचरिउ' अपभ्रंश का रामकथा विषयक प्रथम विशालकाय महाकाव्य है। यह जैन रामायण है। इसमें 90 संधियाँ, 1296 कड़वक तथा 12000 श्लोक हैं। यह पाँच काण्डों- विद्याधरकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड में विभक्त है। स्वयंभू के पउमचरिउ की रचना प्रौढ़ एवं प्रांजल है। इतनी सर्वगुणसम्पन्न काव्य-रचना भाषा की प्रारम्भिक स्थिति में सम्भव नहीं। अतः ऐसा ज्ञात होता है कि स्वयंभू से पूर्व अपभ्रंश काव्य परम्परा उन्नत थी। स्वयं स्वयंभू ने भी अपने पूर्व के भद्र, चतुर्मुख आदि कवियों का उल्लेख किया है किन्तु उनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। स्वयंभू पउमचरिउ की रचना में आचार्य रविषेण से प्रभावित हुए हैं।¹⁰ इनकी द्वितीय रचना 'रिट्ठनेमिचरिउ' है जो महाभारत की कथा का जैन रूप प्रस्तुत करती है।¹¹ 'स्वयंभूछन्द' में प्राकृत और अपभ्रंश के छन्द दिये गये हैं।¹²

स्वयंभू के बाद अपभ्रंश के द्वितीय महाकवि पुष्पदन्त हैं। इनकी 'तिसट्ठि-महापुरिसगुणालंकार', 'णायकुमारचरिउ' एवं 'जसहरचरिउ' तीन कृतियाँ प्राप्त होती हैं। तिसट्ठिमहापुरिस नामक रचना रामकथा से सम्बन्धित है। इस पौराणिक महाकाव्य में 63 शलाकापुरुषों, 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण एवं 9 बलभद्रों का वर्णन किया गया है। इसके द्वितीय भाग-उत्तरपुराण में 69 से 79 सन्धियों में रामकथा वर्णित है। पुष्पदन्त ने अपनी रामकथा में स्वयंभू से पृथक् गुणभद्र के उत्तरपुराण का अनुकरण किया है। इनकी द्वितीय रचना 'णायकुमारचरिउ' (नागकुमारचरित) है। इस ग्रंथ की रचना का उद्देश्य पंचमी उपवास का फल बतलाना है।¹⁰ 'जसहरचरिउ' (यशोधरचरित) कवि की अन्तिम रचना है।¹¹ इसकी कथा अत्यंत लोकप्रिय है। कवि के एक अन्य कोश ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है पर यह रचना अनुपलब्ध है।¹²

अपभ्रंश भाषा में सबसे अधिक रचना करनेवाले कवि रङ्गू हैं। इनके 25 ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। पद्मपुराण (15वीं शती ई.) अपभ्रंश भाषा में जैन रामकथा परम्परा को आगे बढ़ानेवाला तृतीय एवं अन्तिम ग्रंथ है। यह ग्रंथ अप्रकाशित है, जिसकी हस्त-लिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में सुरक्षित हैं। इसमें रामकथा का सामान्य कथन है।¹³ इनकी अन्य कृतियाँ सुकौशलचरित्र, आत्मसंबोधकाव्य, धनकुमारचरित्र, मेघेश्वरचरित्र, श्रीपालचरित्र, सन्मतिजिनचरित्र आदि हैं। इनकी भी हस्तलिखित कृतियाँ आमेर भण्डार में उपलब्ध हैं।

अपभ्रंश में रामकथात्मक साहित्य परिमाण में कम होते हुए भी भाव एवं कला की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है।

1. त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नात्ययोगे समासतः।
समान-शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥ नाट्यशास्त्र 17/2-3
 - देसी-भासा उभय-तडज्जल। क वि दुक्कइ घण-सहू-सिलायल ॥ 1/2/4. पउमचरिउ,
 - पालितएव रइया वित्थरओ तह व देसिवयणेहि।
णामेण तरंगवह कथा विचित्ता य विउला य ॥ पादलिप्त, तरंगवती कथा
 - हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - प्रथम भाग सं. राजबली पाण्डेय, पृ. 315.
2. अपभ्रंश साहित्य - डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 34.
 - महाकवि पुष्पदंत - डॉ. राजनारायण पाण्डेय, पृ. 18.
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आ.रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका, पृ. 3.
4. हिन्दी साहित्य का आदिकाल - डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 11.
5. डॉ. नामवर सिंह - हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान, पृ. 175-176.
6. पउमचरिउ भाग 1- भूमिका (सम्पादक भायाणी) पृ. 16.
7. पुणु रविसेणायरिय - पसाए (बुद्धिएं अवगाहिय कइराएं ॥ 1/2/9 पउमचरिउ
8. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 67.
9. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, पृ. 231.
10. महाकविपुष्पदन्त : डॉ. राजनारायण पाण्डेय, पृ. 99.
11. वही, पृ. 101.
12. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 113.
13. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृ. 116.

द्वारा - श्री यू. के. जैन
सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया
कोर्ट रोड, सहारनपुर - 247001

